

माँ तुझे सलाम

**मदर टेरेसा मेमोरियल ट्रस्ट ( रजि. )**

**मदर टेरेसा फाउंडेशन ( रजि. )**

कुष्ठ रोगियों एवं मानसिक विकलांग बच्चों एवं उपेक्षित बच्चों की सेवा में समर्पित  
( गरीबों में भी गरीब लोगों की सेवा में समर्पित एक प्रयास )

आर-जेड-2683, दूसरी मंजिल, गली नं. 29,

मदर टेरेसा अपार्टमेंट्स, तुगलकाबाद एक्सटेन्शन, नई दिल्ली-110 019

e-mail : motherteresatrust@hotmail.com; pratyush.1973@yahoo.in

फोन : 09999266266

माँ तुझे सलाम

प्रत्यूष शंकर शुक्ला



मदर टेरेसा मेमोरियल ट्रस्ट ( रजि. )

मदर टेरेसा फाउंडेशन ( रजि. )

पुस्तक का मूल्य :

“सारे भूखों के मुँह में अन्न नहीं दिया जा सकता, सभी रोगियों की सेवा कर पाना भी संभव नहीं है। तब क्या सेवा, दान, प्यार आदि को छींके पर टाँग कर रख दें? नहीं, मार्ग में चलते हुए यदि आँखों के सामने कोई भूखा आ खड़ा हो, तो उसे देखना ही धर्म है, उसकी भूख मिटाने के लिए आगे बढ़ना ही मानवता का कर्तव्य है। संख्या चाहे हजार, लाख या करोड़ कितनी ही क्यों न हो, प्रत्येक मनुष्य यदि प्रतिदिन एक अच्छा कार्य करे, तो संभवतः फिर कोई समस्या ही न रहे।”

यदि आप यह कीमत देना पसन्द करें तो इस शोध पुस्तक को अवश्य लें अन्यथा इसे वापस कर दें।

माँ तुझे सलाम  
प्रत्यूषा शंकर शुक्ला

© लेखक

प्रथम संस्करण-2006  
द्वितीय संस्करण-2007  
तृतीय परिवर्धित संस्करण-2010

इस पुस्तक में प्रकाशित सामग्री के सर्वाधिकार लेखक के पास सुरक्षित हैं। कोई भी व्यक्ति/संस्था/समूह आदि इस पुस्तक की आंशिक या पूरी सामग्री किसी भी रूप में बिना लेखक की अनुमति के मुद्रित/प्रकाशित नहीं कर सकता।

प्रकाशक

मदर टेरेसा मेमोरियल ट्रस्ट ( रजि. )

आर-जेड-2683, दूसरी मंजिल, गली नं. 29,  
मदर टेरेसा अपार्टमेंट्स, तुगलकाबाद एक्सटेन्शन, नई दिल्ली-110 019  
e-mail : motherteresatrust@hotmail.com

फोन : 09999266266

मुद्रक

अर्पित प्रिंटोग्राफर्स, दिल्ली-110 032  
e-mail : arpitprinto@yahoo.com  
फोन : 09350809192

“स्व. सुश्री निर्मला देशपांडे ‘दीदी’ को जिन्होंने जीवन पर्यन्त  
गाँधी जी, विनोबा जी के विचारों को गति दी।”



## आभार

सबसे पहले तो उस प्रभु का आभार जिसने हमें इस दुनियाँ में रंग-बिरंगे, निराले अंदाज़ को देखने भेजा है और उसके बाद अपने परिवार का, जिन्होंने मुझे नैतिक बल देकर समाज में संघर्ष करने में सहायता की। शुभ कार्य जब से शुरू हो, उसी दिन से शुरू कर दें।

आभार, धन्यवाद श्री सलमान खुर्शीद जी का जिन्होंने जून, 2005 में श्री नवीन चावला जी द्वारा “माँ” पर लिखी हुई प्रमाणित आत्मकथा “मदर टेरेसा” अंग्रेज़ी संस्करण, यह कहते हुए दी, “कुछ इनसे सीखो।” वह दिन था और आज का दिन है, पीछे पलटकर नहीं देखा। उसी बताए हुए रास्ते पर चला, तो चलता ही गया और उसमें श्रीमती लुईस खुर्शीद जी ने सदा मार्ग-दर्शन देने के साथ-साथ मेरा नेतृत्व किया। श्रीमती खुर्शीद के सफल निर्देशन में मुझे काम करने का अच्छा अनुभव और सुखद एहसास रहा। आज मुझे दुनिया के हर इन्सान में, हर जीव में, प्रभु की कृपा और प्रभु ही नज़र आते हैं और प्रभु से प्रार्थना है कि किसी ज़रूरतमंद की ज़रूरत पूरी कर सकूँ, किसी बीमार का इलाज करा सकूँ, किसी की शिक्षा का प्रबंध कर सकूँ, जहाँ नफरत और ईर्ष्या का वातावरण हो, वहाँ प्रेम और करुणा का संचार कर सकूँ।

परम पिता परमेश्वर से अपनी माँ, “पवित्र संत मदर टेरेसा”, के माध्यम से प्रार्थना करता हूँ। असीसी के संत फ्रांसिस के विचारों और आदर्शों का प्रभाव माँ टेरेसा के ऊपर हुआ और माँ टेरेसा के विचारों और आदर्शों का असर मुझ जैसी माँ की बहुत-सी संतानों को हुआ।

“माँ तुझे सलाम” का तृतीय संशोधित अंक आपके हाथ में है और इस तृतीय अंक के प्रकाशन तक बहुत कुछ ऐसा हो चुका था, जिससे मैं टूट जाता या जीवन से हार मान लेता। फिर जब भी ऐसे क्षण आए, तो मैंने परम पावन प्रभु को हमेशा अपने करीब पाया। हिम्मत बढ़ती गई और मैं मंज़िल तय करता गया।

“माँ तुझे सलाम” के तृतीय अंक के प्रकाशन तक मदर टेरेसा मेमोरियल ट्रस्ट/मदर टेरेसा फाउण्डेशन की स्थापना को तीन वर्ष से अधिक समय व्यतीत हो गया और इस समय तक आने की स्थिति और नींव की मज़बूती में जिन साथियों, सहयोगियों और मित्रों का बहुत सहारा एवं सहयोग मिला, उन क्षणों को और उस समय को कैसे भुलाया जा सकता है।

फर्रूखाबाद में मदर टेरेसा मेमोरियल ट्रस्ट एवं मदर टेरेसा फाउण्डेशन के आरम्भिक दौर में कौशल किशोर द्विवेदी (एडवोकेट), वीना कुशवाहा (एडवोकेट), वसीमजमां खाँ, पुन्नी शुक्ला, दीपू तिवारी, मनीष शुक्ला, निशांत तिवारी, हरिओम मिश्रा, अंकुर मिश्रा, वाहिद अली खाँ, डॉ फरीद चुगताई, जी० लाल, इस्लाम चौधरी, विजय मिश्रा (एडवोकेट), आदिल कामरान (एडवोकेट), मो० अहसन, उजैर खाँ, शकुन्तला देवी, सौरभ मिश्रा, एटा, विजय मिश्रा, कन्नौज, फहीम, नवीं दिल्ली, सतवीर शर्मा, दिल्ली, डॉ० दीपा कपूर, दिल्ली, डा० एम० के० तनेजा, दिल्ली, डॉ० तारनी तनेजा, मुज्जफ़रनगर, अमिताभ मल्होत्रा, लखनऊ सहित बहुत-से साथियों, मित्रों, शुभचिन्तकों का सहयोग रहा। मैं इन सभी का हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ और प्रभु जी से प्रार्थना करता हूँ कि इन सभी पर अपनी कृपा बनाए रखें।

“माँ तुझे सलाम” के अंग्रेज़ी संस्करण और हिन्दी के तृतीय संशोधित संस्करण के प्रकाशन से पूर्व ही अर्पित प्रिन्टोग्राफर्स के श्री सुधीर वत्स जी मेरे लिए प्रकाशक या मुद्रक न होकर परिवार के सदस्य और मेरे बड़े भाई के समान प्रेम से परिपूर्ण भाई साहब हो चुके हैं। पुस्तक प्रकाशन की मुझे कोई जानकारी नहीं है। इस प्रकाशन के अलावा जो दूसरे प्रकाशन भी हुए हैं, उनका सुधीर भाई साहब को ही श्रेय जाता है। मैं तो मात्र उनको लिख कर देता रहा और वे अपने पूरे मनोयोग से पुस्तक प्रकाशित करते रहे।

पवित्र संत माँ परम पिता परमात्मा की ऐसी संतान हैं, जिन्होंने हमें सही रास्ता दिखाया इनसानियत का, मानवता का और मुझे फ़क्र है कि मेरे सभी

सहयोगी, साथी उसमें हर कदम पर साथ दे रहे हैं। उन सभी का हार्दिक आभार, धन्यवाद।

प्रशांत तिवारी, मेरा छोटा भाई, जिसको ट्रस्ट के किसी भी कार्य को करने में कोई दिक्कत या परेशानी नहीं हुई, वह भी प्रभु के आशीष का पात्र है।

मेरी सहधर्मिणी अर्चना और मेरा प्यारा बेटा प्रियांशु कबीर को भी धन्यवाद, जिन्होंने अपने समय में से कुछ समय देकर मुझे “माँ” का काम करने दिया।

“माँ तुझे सलाम” के तृतीय संशोधित अंक के कवर पृष्ठ को डिजाइन करने के लिए मो० सैफुल हसन और मो० फैसल का हार्दिक आभार। अब वे वैबसाइट भी डिजाइन कर रहे हैं, उसके लिए अग्रिम आभार।

1. मदर टेरेसा हैल्पलाइन फार्मैसी, फर्रूखाबाद के कुशल संचालन के लिए छोटे भाई निशांत तिवारी को ढेरों आशीष, ईश्वर उसको खुश रखें।

2. मदर टेरेसा हैल्थ सैन्टर फॉर परसन विद लेप्रोसी एण्ड स्पेशल चिल्ड्रन की कुशल व्यवस्था और क्लीनिक उपलब्ध कराने के लिए छोटे भाई अनुराग गोपाल तिवारी को भी ढेरों आशीष, ईश्वर उनको भी खुश रखें।

3. सत्य जीवन धाम @ श्री मुक्ति कुष्ठ आश्रम, घटियाघाट, फर्रूखाबाद के सभी 23 परिवारों के कुष्ठ रोगी साथियों का हार्दिक आभार, जिन्होंने अपनी सेवा का अवसर मुझे प्रदान किया।

4. निर्धन में भी निर्धनतम की शिक्षा के लिए मदर टेरेसा शिक्षा केन्द्र के सफल संचालन के लिए मनीष शुक्ला को ढेरों आशीष।

दिल्ली के कार्यालय के सहयोगियों में प्रमुख जयप्रकाश जी, जमील भाई, सुमित वाधवा जी, आनन्द सिंह, मोहन बिष्ट के साथ-साथ गिरि केतराज जी का भी हार्दिक आभार, जो कमजोर पड़ने पर लगातार मेरी हौसला अफजाई करते रहे और मुझे कमजोर नहीं होने दिया।

डॉ. अतुल अरोड़ा, और डॉ. राहुल मुरादा जिन्होंने मेरे स्वास्थ्य पर पुरी सख्त निगाह रख कर मुझे स्वस्थ रहने में मेरी सहायता की और जिनके कारण स्वस्थ रह कर माँ और माँ के सम्बन्ध में लिख सका।

राममोहन राय महान गाँधीवादी और निर्मला दीदी के मानसपुत्रों में से एक और नित्यनुतन के सम्पादक वीणा बहन जिन्होंने निर्मला दीदी के बाद इस खतनाक होते जा रहे माहौल में गाँधी जी और विनोबा जी के आदर्शों और नीतियों पर चलकर साबित कर दिया की गाँधी जी के एकला चलो रे एकला

यूँ ही नहीं था यूँ ही नहीं था एकला चलने के बाद कारवां तो जुड़ता ही है बस आप नेक-नीयति से उसके और चल तो दें। मेरा अगला शोध अनुसंधान पूर्व और पश्चिम का तारतम्य इन दोनों महानुभावों से मिलने के बाद शुरू हुआ।

अब अगर मैं पुस्तक के कुशल संपादन के लिए अपनी छोटी बहन प्रियंका पाठक, जो कि मदर टेरेसा ट्रस्ट में ट्रस्टी भी हैं, का आभार प्रदर्शित न करूँ तो बहुत बड़ा अन्याय होगा उसके साथ। मेरी ढेरों आशीष उसे और उसके प्यारे से परिवार को। लिखने को आभार प्रदर्शन की श्रृंखला बहुत बड़ी है। सेवा और प्रेम का दायरा किसी आभार या धन्यवाद का आकांक्षी नहीं है।

इसी के साथ जाने-अनजाने में हुई गलतियों के लिए क्षमा के साथ।

आपका, सदैव ही आपका

**प्रत्यूष शंकर शुक्ला**

प्रबन्ध न्यासी / अध्यक्ष

मदर टेरेसा मेमोरियल ट्रस्ट

नई दिल्ली



Archana Datta (Mukhopadhyay)  
Officer on Special Duty  
(Public Relations)

President's Secretarial  
Rashtrapati Bhawan  
New Delhi- 110004

No. F. 2-M/2009

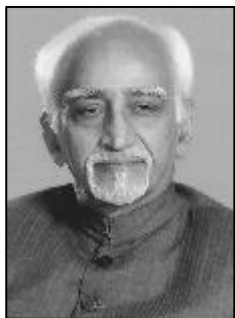
6th July, 2009

## MESSAGE

The President of India, Smt. Pratibha Devisingh Patil, is happy to know that the Mother Teresa Memorial Trust, New Delhi and the Mother Teresa Foundation are celebrating the 100th Birth Anniversary of the Mother Teresa on August 27, 2009.

The President extends her warm greetings and felicitations to all those associated with the Trust and Foundation and wishes the Celebrations all success.

Officer on Special Duty (PR)



**OFFICER ON SPECIAL DUTY  
TO THE VICE PRESIDENT OF INDIA  
NEW DELHI - 110011  
TEL: 23016422/23016344  
FAX : 23012645**

**12th June, 2008**

## MESSAGE

Hon'ble Vice President of India is happy to know that Mother Teresa Memorial Trust has been working for the welfare of women and children.

The Vice President of India extends his greetings and good wishes to all those associated with the Mother Teresa Memorial Trust and wishes it all success in its endeavours.

**P. Harish**



**APOSTOLIC NUNCIATURE IN INDIA**  
**50-C, NITI MARG, CHANAKYAPURI**

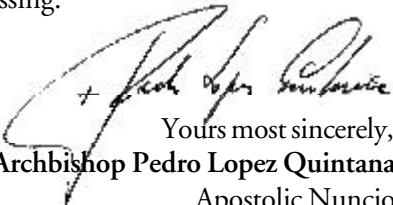
**April 12, 2006**  
**N. 10351/06**

## MESSAGE

The Holy Father, Pope Benedict XVI, was pleased to be informed of the commendable works of charity undertaken by the recently started Mother Teresa Foundation. His Holiness acknowledges with satisfaction that the Foundation has already distributed clothes to the poor and needy, study materials to poor children in Government schools, and many such humanitarian help to the weaker sections of society, following the example of Mother Teresa of Calcutta.

In keeping with the exhortation of the Second Vatican Council in *Gaudium et Spes (n.1)* the “the joys and hopes, the griefs and the anxieties of the people of this age, especially those who are poor or in any way afflicted, these too are the joys and hopes, the griefs and anxieties of the followers of Christ”, Mother Teresa spent her life in selfless service of the poorest of the poor, irrespective of their caste or creed or religious affiliation. It is very encouraging to see that even after her death Mother Teresa continues to inspire people of good will to spend of themselves generously for the uplift of their less fortunate brothers and sisters.

Grateful to God for the generosity of the founding members and associates of the Mother Teresa Foundation, and as a pledge of his solidarity and support, His Holiness imparts to all the members of the Foundation his Apostolic Blessing.



Yours most sincerely,  
**Archbishop Pedro Lopez Quintana**  
Apostolic Nuncio



BUCKINGHAM PALACE



Queen Elizabeth II  
Buckingham Palace  
London

10th May, 2006

## MESSAGE

The Queen has asked me to thank you for your letter of 16th February and I must first of all apologise for the delay in replying. Due to the very high volume of mail received in recent weeks, correspondence is being dealt with in strict date order.

Her Majesty was most interested to learn of your organisation, the *Mother Teresa Foundation*, from which you and your colleagues help the needy and the poor in your area. The queen hopes that your work continues successfully and Her Majesty has asked me to convey her warm good wishes to you and to everyone concerned with *The Mother Teresa Foundation* for the future.

Your sincerely,  
**Mrs. Sonia Bonici**  
Senior Correspondence Officer



**APOSTOLIC NUNCIATURE  
IN INDIA**



**50-C, NITI MARG,  
CHANAKYAPURI  
NEW DELHI - 110 021**

**N. 23.026/09**

**19th February 2009**

## MESSAGE

I am pleased to apprise that the Mother Teresa Memorial Trust, New Delhi, dedicated to the welfare of special children and lepers, organizes programmes and functions for the Centenary of the birth of Mother Teresa and that a special Souvenir is being released to mark this auspicious occasion.

The Church grants much importance to the assistance to the poor and to the marginalized as this is part of its mission of building a world more just and fraternal according the values of the Holy Gospel. The consecration, the activities and the whole life of Mother Teresa are a happy example of a woman who tried to incarnate these gospel values.

Therefore, it gives me great pleasure to know that your foundation is committed to work under the noble guidelines of Mother Teresa and that the holy life of Mother Teresa is inspiring other women and men of good will to stretch out generously the hands to the needy of our society. Appreciating the generosity of the members of the Mother Teresa Memorial Trust, decided to sustain children and lepers with their personal income, I

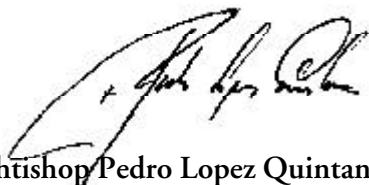
earnestly encourage you and implore God's abundant blessings for your work.

Mother Teresa's Centenary birth can very well be a privileged moment for the renewal of your commitment and for the planning of consequent future action. This celebration is too a great occasion for expressing gratitude to God for the precious gift to humanity, irrespectively of religions and races, through the life of Mother Teresa of Calcutta who continues to shine at our horizon as star of love and virtues.

While I congratulate you personally and all the members of Mother Teresa Memorial Trust on this jubilant occasion, I pray that the celebrations and the Souvenir being brought out be fitting instruments of spiritual renewal in your work.

With my blessings and prayerful wishes for a memorable Centenary celebration, I remain,

Yours sincerely in Christ

A handwritten signature in black ink, appearing to read 'Pedro Lopez Quintana', written in a cursive style.

Archbishop Pedro Lopez Quintana  
Apostolic Nuncio



Embassy of the United States of America  
New Delhi



**TIMOTHY J. ROEMER,**  
**U.S. Ambassador to India**

**June 11, 2010**

## MESSAGE

On behalf of Ambassador Roemer and the U.S. Mission in India, I wish you, the “yound bloods,” and the Mother Teresa Memorial Trust the best of success in helping women and children overcome the challenges they face and bring joy and happiness to their lives.

I commend your organization for choosing to follow the noble guidelines of the Blessed Mother Teresa. Her generous spirit and tireless efforts helped thousands of people rise from poverty to a better life. By following hed example, the mother T eresa Memorial Trust will be able to carry on the Blessed Mother Teresa’s legacy and help thousands more people in need.

Sincerely,  
**Steven J. White**  
Chargé d’ Affaires, a.i.



GOVT. OF NATIONAL CAPITAL  
TERRITORY OF DELHI  
Delhi Secretariat, I.P. Estate,  
New Delhi-110002



**SHEILADIKSHIT**  
Chief Minister

D.O No. : OSD/CM/5813

Dated : 15/04/2009

## MESSAGE

I am glad to learn that **Mother Teresa Memorial Trust** is celebrating 100th birth Anniversary of Mother Teresa on 27th August 2009 at New Delhi.

The Trust has been engaged in providing facilities to lepers and special children. I am sure that it would continue to involve itself in noble deeds with an aim to serve the needy and under-privileged sections of the society. It is also encouraging to know that a book on works and life of revered Mother Teresa is also being brought out on this occasion.

My best wishes for success of the celebration.

**Sheila Dikshit**



**LOUISE KHURSHID**

## MESSAGE

It is indeed immensely gratifying to know about the activities and work done by the Mother Teresa Memorial Trust and Mother Teresa Foundation for the poor and needy people especially children. It is indeed a big task that you all are doing for society at a large. Mother Teresa, a symbolic of Love, Humankind and all living creatures devoted her entire life in the welfare of society and continued her mission even upto her last days. She will always be an inspiration for big and small alike.

All of you still very young, giving your best through the Mother Teresa Memorial Trust and Mother Teresa Foundation. May almighty God help you in your Mission and make you stronger in facing the challenges of contemporary times. We will always be there to help you in the noble cause.

My best wishes to the entire Team Member.

A handwritten signature in cursive script, reading "Louise Khurshid". The signature is written in dark ink on a light background. Below the signature is a horizontal line.

**Louise Khurshid**



सबसे प्यार करो  
जैसे ईश्वर तुमसे करता है।  
याद रखो: प्यार का काम  
शांति का काम है

ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे।  
मदर टेरेसा, एम सी

*Love others as  
God loves you  
Remember  
looks of love  
are  
weapons of Peace  
God bless you  
M. Teresa  
Love begins at home*

## भूमिका

श्री प्रत्यूश शुक्ला, संस्थापक ट्रस्टी, मदर टेरेसा स्मारक ट्रस्ट द्वारा लिखित यह उत्कृष्ट पुस्तक श्रद्धापूर्ण कार्य है तथा मदर टेरेसा के बारे में सराहनीय परिचय है। मदर अपने जीवन-काल में प्रचार से दूर रहीं और इसलिए उनके महान मानवीय कार्यों पर पुस्तक की और अधिक आवश्यकता है। यह पुस्तक उनकी गहरी वेदना, आंतरिक व्यथा तथा ईश्वर एवं उसके आदेशों में उनकी अटल निष्ठा से हमारा परिचय करवाती है। उनका विश्वास था कि उनके एवं उनके अनुयायियों द्वारा परमात्मा का कार्य किया गया था। वह तो उस सर्वशक्तिमान के आदेशों की पूर्ति का माध्यम मात्र थीं।

एग्नेस गोनाक्सा बेजाक्सिउ, जैसा कि माता-पिता ने मदर का नाम रखा था, का जन्म यूगोस्लाविया के स्कोपे नाम के छोटे से शहर में 27 अगस्त, 1910 को हुआ था। 7 वर्ष की छोटी अवस्था में उन्होंने अपने पिता को खो दिया। 1914 में प्रारंभ हुए विश्व युद्ध का भी इस छोटी-सी बच्ची पर बड़ा प्रभाव पड़ा छोटी उम्र में वह बहुत कोमल हृदय वाली ईश्वर से डरने वाली और दूसरों के कष्ट के प्रति संवेदनशील थीं। गरीबों की व्यथा से उनका परिचय यूगोस्लाविया के उनके शहर के मिशनरी को 1925 में भारत से भेजे गए मिशनरी रिपोर्ट से हुआ। 15 वर्ष की छोटी उम्र में उन्होंने भारत जाने का निश्चय किया और इस “प्रेरणा और ईश्वर की पुकार” कहा।

घर का आराम एवं परिवार को छोड़ वह भारत पहुँची तथा पहले-पहल

सेंट मेरी हाई स्कूल, कोलकाता में भूगोल शिक्षक के रूप में कार्य प्रारंभ किया। उन्होंने वहाँ 18 वर्षों तक कार्य किया। स्कूल के पास मोती झील के नजदीक एक बस्ती थी जहाँ वे प्रायः घूमने जाया करती थीं। गरीब और दलित बच्चे इस बस्ती में रहते थे। उन लोगों की दयनीय स्थिति को देखकर उन्हें बहुत दुख होता था।

10 सितंबर, 1946 को जब वे दार्जिलिंग जा रही थीं तो उन्हें महसूस हुआ कि ईश्वर उन्हें “गरीब, अकिंचन, निराश्रय, अशक्त और असहाय लोगों” हेतु सब कुछ छोड़ने का संदेश दे रहे हैं। एक शुद्ध, साफ एवं निर्मल हृदय ही ऐसी आवाज को सुन सकता है। दो वर्ष पश्चात, 18 अगस्त, 1948 को उन्होंने अपना पहनावा बदल दिया तथा जिन्हें उनके समर्थन एवं मार्गदर्शन की आवश्यकता थी उन तक अपनी पहुँच सुनिश्चित करने के विचार से नीले किनारे वाली सफेद साड़ी धारण कर ली। उन्होंने शिक्षक की नौकरी छोड़ दी, पटना में परिचारिका का प्रशिक्षण लिया तथा पूर्ण कालिक समाज सेविका बन गई एवं बहुत ही सादा जीवन अपना लिया। सभी भौतिक सुविधाएं छोड़ दीं। उन्होंने अपने-आपको पूर्णयता बदल दिया और भारतीय जीवन अपनाकर सियालदह के एक छोटे-से घर में रहने लगीं।

उनके द्वारा स्थापित मिशनरीज ऑफ चैरिटी नाम संगठन द्वारा कई संस्थाएं चलाई जा रही हैं। शिशु भवन में अपने माता-पिताओं द्वारा परित्यक्त 100 बच्चों की देख-रेख शिशु भवन की सिस्टर्स द्वारा की जा रही है। 1950 में कालीघाट मंदिर के समीप मरणासन्न एवं अकिंचन लोगों हेतु मदर ने निर्मल हृदय नाम संस्था की स्थापना की। कुष्ठ रोगियों हेतु शांति नगर नाम गृह की स्थापना पश्चिम बंगाल सरकार द्वारा दी गई 35 एकड़ जमीन पर की गई। अपने परिवारों द्वारा त्याग दिए गए इन लोगों को इस संस्था में लाकर उनका उपचार एवं सेवा सिस्टर्स द्वारा की गई। मदर स्वयं उनके घाव साफ करती थीं। इस रोग से पीड़ित अमीर लोगों ने भी यहाँ आश्रय लिया। इसी प्रकार का एक आश्रम उ.प्र. के फरूखाबाद जिले में ‘सत्य जीवन धाम कुष्ठ रोग आश्रम’ बनाने की योजना है।

मदर को 21,500 डालर राशि वाला पोप जोन पॉल शांति पुरस्कार प्रदान किया गया। पोप पॉल IV द्वारा उन्हें एक कार भी प्रदान की गई। इसे लॉटरी के माध्यम से बेचा गया जिससे काफी धन प्राप्त हुआ। स्पष्ट है कि इस प्रकार

प्राप्त धन को गरीबों हेतु दान कर दिया गया। उन्होंने अपने लिए कभी एक रुपया भी नहीं लिया। गरीबों एवं दलितों के प्रति उनके समर्पण और सेवा के लिए मदर को 1979 में नोबेल शांति पुरस्कार दिया गया, वहाँ उन्होंने लोगों से कहा “यह पुरस्कार मेरी नहीं, विश्व भर में मनवता के समर्थकों का है।” उन्होंने पुरस्कार समारोह के अवसर पर प्रतिष्ठित लोगों के सम्मान में दिया भोज में शामिल होने से मना कर दिया। ऐसी थी उनकी सादगी और उनका समर्पण।

1973, में आईसीआई, भारत में एक ब्रिटिश फर्म, ने “प्रेम दान” के नाम से एक विशाल भवन मानसिक रोगियों एवं विकलांग बच्चों के लिए गृह की स्थापना हेतु मदर को दान में दिया। मदर ने सियालदह में नारियल के बेकार छिलकों को रजाई, फर्श मैट आदि बनाने हेतु इकट्ठा करना शुरू किया। 300 बच्चे इस प्रकार से अपनी रोजी-रोटी कमाते हैं। अपना घर न होने कारण रेलवे प्लेटफार्म आदि पर सोने वाले गरीब बच्चों के लिए मदर ने रात्रि विश्रामालय भी खोला। अपनी भारत यात्रा के दौरान मदर द्वारा किए गए कार्यों से प्रभावित होकर सीनेटर केनेडी द्वारा दिए गए दान के धन से मदर ने 1971 में दमदम विमान पतन के पास बांग्लादेशी शरणार्थियों हेतु निर्मल केनेडी केंद्र प्रारंभ किया। शरणार्थियों के जाने के पश्चात इस केंद्र का प्रयोग हृदय घात, लकवा आदि के मरीजों एवं विकलांग बच्चों के लिए किया जा रहा है।

मदर का ईश्वर में पूर्ण विश्वास था। धन की अत्यधिक कमी की स्थिति में मदर प्रार्थना करती थीं और उपहार एवं धन आने प्रारंभ हो जाते थे। उनसे आगरा में एक मिशनरी की स्थापना का अनुरोध किया गया तथा एक नकद पुरस्कार ने इसे संभव कर दिया।

मदर ने सिस्टर एग्नेस को 1949 में अपने मिशन से जोड़ा। उनके मिशन की सभी सिस्टरस मानवता एवं निःस्वार्थ सेवा के प्रति पूर्णतः समर्पित हैं। उनका आदर्श है, “बीमार और पीड़ित लोगों की सेवा ईश्वर की सेवा है।” उनके नियम बहुत कड़े हैं तथा वे मदर के मार्ग-निर्देशन में सादा जीवन व्यतीत करती हैं।

मिशनरीज ऑफ चैरिटी की शाखाएं पूरे भारत, तथा-दिल्ली, मुम्बई, आगरा, भागलपुर, के साथ-साथ स्वित्जरलैंड, कनाडा, हॉलैंड और डेनमार्क

सहित पूरे विश्व में फैली हैं। इसे “मदर टेरेसा के सहयोगियों का अंतर्राष्ट्रीय एशोसिएशन” कहा जाता है। मदर का एक परिवार उत्तर प्रदेश में ‘मदर टेरेसा मेमोरियल ट्रस्ट (रजि.)’ भी है।

5 सितंबर, 1997 को मदर टेरेसा का स्वर्गवास हो गया। कोफी अन्नान, संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव, बिल क्लिंटन, जॉक शिराक और दुनिया एवं भारत के सभी महत्त्वपूर्ण लोगों के संवेदना संदेश आए। सिस्टर निर्मला, जो उस समय मिशनरी ऑफ चैरिटी की प्रधान थीं, ने कहा कि गरीबों और दलितों की सेवा ही इस महान महिला के प्रति संवेदना एवं श्रद्धांजलि होगी।” अब इस समय मिशनरी आफ चैरिटी की प्रधान सिस्टर प्रेमा हैं और मदर टेरेसा मेमोरियल ट्रस्ट के प्रबन्ध न्यासी प्रत्यूश शंकर शुक्ला हैं।

प्रत्यूश शुक्ला ने आम लोगों के समक्ष यह शोध-पत्र लाने का सराहनीय कार्य किया है। अपने निजी जीवन में भी उन्होंने मदर के नक्शे-कदम पर चलने का प्रयास किया है और अपना जीवन उनके कार्यों को और उनको समर्पित कर दिया है। एक उच्चतर जीवन की इच्छा करना एक विलक्षण कार्य है। यह पुस्तक अधिकाधिक लोगों तक मदर का संदेश पहुँचने में निश्चय ही सहायक होगी; और उनके हृदय को भी छुएगी जिन्हें गरीबों एवं बीमारों के प्रति प्यार की शक्ति का अहसास अभी तक नहीं हुआ है। इस पवित्र प्रयास से जुड़कर मैं भी सम्मानित महसूस करता हूँ।



**सलमान खुर्शीद**

राज्य मंत्री (स्वतंत्र प्रभार)

अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय

एवं कारपोरेट कार्य मंत्रालय

भारत सरकार

## प्रस्तावना

मदर टेरेसा, करुणा की प्रतिमूर्ति। यूगोस्लाविया में जन्मी किंतु एक बार भारत आई, तो यहीं की होकर रह गई। वे आजीवन दीन-दुखियों, अनाथों की सेवा करती रहीं। उन्होंने पहले-पहल कोलकाता में दीन-दुखियों की सेवा आरंभ की। नितांत साधारण, सीधी-सादी दिखाई देने वाली इस महान महिला को 1979 ई० में नोबेल पुरस्कार भी प्राप्त हुआ। मदर में सेवा-भावना इस कदर कूट-कूटकर भरी थी कि वे अपने पुरस्कारों तथा अन्य स्रोतों से प्राप्त सम्पूर्ण धनराशि भी सेवा-कार्यों में लगा देती थीं। संसार-भर के राष्ट्राध्यक्ष, प्रधानमंत्री उन्हें बड़ी श्रद्धा और भक्ति से देखते, मिलते और सम्मान करते थे। उन्हें संसार-भर में मानव सेवाओं के लिए सम्मानित और पुरस्कृत किया गया। अपना समस्त जीवन दूसरों की सेवा में समर्पित करने वाली मदर टेरेसा जैसे व्यक्तित्व कभी-कभी ही जन्म लेते हैं। उनके जीवन से हमें निःस्वार्थ सेवा-भावना तथा परोपकार की प्रेरणा मिलती है।

प्रस्तुत पुस्तक 'माँ तुझे सलाम' में उनके जीवन से जुड़ी विभिन्न घटनाओं तथा पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। इस शोध-पत्र का उद्देश्य उनके द्वारा समाज के लिए किए गए कार्यों, उनके जीवन-चरित्र तथा जीवन-आदर्शों को उजागर करना मात्र है। शोध-पत्र को सरल और सुबोध शैली में विभिन्न चित्रों सहित प्रकाशित किया गया है, ताकि पाठक इससे अधिक-से-अधिक प्रेरणा ले सकें। पुस्तक में वर्णित घटनाओं तथा तिथियों को लेखक ने यद्यपि

पूर्ण अध्ययन और मनन के पश्चात् लिखा है, तथापि किसी विशेष घटना की तिथि को लेकर विरोधाभास हो सकता है। यदि आपको किसी विशेष घटना, तिथि के नाम को लेकर किसी प्रकार का विरोधाभास अथवा त्रुटि नजर आती है, तो कृपया हमें शीघ्र सूचित करें, ताकि आगामी संस्करण में वे त्रुटियाँ दूर की जा सकें। संसार के सभी देश मदर टेरेसा का कार्य-क्षेत्र थे। वे जहाँ भी गईं, वहीं अपना निर्मल प्रेम बाँटा। उनकी दृष्टि में सभी दुखी प्राणी एक जैसे थे। तिरस्कृत चाहे फिलिस्तीनी हों या भारतीय, मदर टेरेसा ने सबके दुखों पर अपना स्नेहिल मरहम लगाया।

अनाथ बच्चे, कुष्ठ रोगी, विशेष बच्चे, सड़क पर कूड़ा बीनने वाले बच्चों, फुटपाथ पर रहने वाले बच्चे, जिन्हें मदर स्पेशल चिल्ड्रन यानी विशेष बच्चे कहती थीं, मदर के स्नेहिल स्पर्श से मानो अपने सारे दुख-दर्द भूल जाते थे। उनके सेवा-सदनों में हजारों ऐसे कुष्ठ रोगी और विशेष बच्चे हैं। मदर टेरेसा सबका उपचार करतीं और स्नेह का प्रसाद भी बाँटतीं।

मदर टेरेसा के अनुयायियों की संख्या भी करोड़ों में है। मदर टेरेसा के सेवा-कार्य ही उन अनुयायियों की प्रेरणा है। मदर टेरेसा स्वयं महात्मा गांधी से प्रेरित थीं, हालाँकि वे कभी गांधीजी से नहीं मिल सकीं। गांधीजी ने अस्पृश्यता विरोध, दलित, हरिजन और कुष्ठ रोगियों के लिए सेवा-कार्य का आंदोलन चलाया था। मदर टेरेसा को गांधीजी के इन कार्यों ने बहुत प्रभावित किया। इस प्रेरक आह्वान को मदर टेरेसा ने सुना और स्वयं भी इसी पथ पर चल पड़ीं। फ़्लोरेन्स नाइटेंगल (लेडी विद द लैंप), स्पेन की नन टेरेसा और सेंट ऑफ असीसी जैसे महान परमार्थियों से प्रेरणा लेकर मदर टेरेसा ने जीवन-भर परमार्थ के पथ पर सेवा-भाव का दीपक प्रज्वलित रखा।

**प्रत्यूश शंकर शुक्ला**

प्रबन्धन्यासी/अध्यक्ष

मदर टेरेसा मेमोरियल ट्रस्ट

## अनुक्रम

● आभार	7
● संदेश	
President's of India	11
Vice President of India	12
Holy Father, Pope Benedict XVI	13
Queen Elizabeth II	14
Apostolic Nunciature in India	15
Ambassador of USA	17
CM of Delhi	18
Louise Khurshid	19
● भूमिका	21
● प्रस्तावना	25
● गरीबी के नाम गरीबी का सम्मान	29
● रास्ता मिल गया—प्रभुजी की पुकार	33
● आमर भारत—भारत मेरा है	41
● संघर्ष की शुरूआत	53
● सफलता की ओर	61

● निर्मल हृदय	76
● सत्य जीवन धाम—कुष्ठ-रोग आश्रम	88
● आश्रय	94
● रैनबसेरा	97
● निर्मल केनेडी केन्द्र	99
● चाह, राह और मंजिल	102
● आस्था और श्रद्धा	124
● माँ दिल में आज भी है—श्रद्धांजलि	140
● पवित्र आत्मा सन्त माँ मदर टेरेसा	145

## गरीबी के नाम पर गरीबी का सम्मान

10 दिसंबर, 1979

पतली-सी सफ़ेद सूती नीले किनारेवाली धोती पहने एक वृद्धा ओस्लो विश्वविद्यालय, नार्वे के विशाल सभागार के मंच पर धीरे-धीरे बढ़ रही थी। समारोह था इस वृद्ध महिला को विश्व में शांति और सहयोग की भावना विकसित करने हेतु सम्मानित करने का और पुरस्कार था विश्व का सर्वोच्च “नोबेल पुरस्कार” और प्रदान करने वाले थे नोबेल पुरस्कार समिति के अध्यक्ष, प्रो० जॉन सॉनिस, पुरस्कार राशि 90 हजार पौंड।

इस अवसर पर उपस्थित थे विश्व के वरेण्य विद्वतजन एवं राजनयिक और वरिष्ठ अधिकारी तथा स्वयं विशेष रूप से उपस्थित थे नार्वे के सम्राट्। निश्चित ही आप समझ गए होंगे कि यह सर्वोच्च पुरस्कार दिया जाने वाला था, दुखियों, बेसहारा, विकलांगों तथा कुष्ठ रोगियों और विशेष बच्चों की ममतामयी माँ ‘मदर टेरेसा’ को।

नोबेल पुरस्कार समिति के अध्यक्ष जॉन सानिस ने मदर को पुरस्कार के लिए चयन किए जाने के संबंध में बताया कि मदर के कार्यों का सबसे बड़ा प्रमाण है व्यक्ति के प्रति सम्मान, उसकी योग्यता और उसकी गरिमा की पहचान। एकाकी, दीन-हीन, मरणासन्न, निराश्रित व्यक्ति, परित्यक्त कुष्ठ रोगी व अनचाही संतानें-ये सभी मदर के अपने हैं और उन्होंने अपना सारा जीवन मात्र तीन धोतियों में, उनके लिए समर्पित कर दिया। अपने ही जीवन

और व्यक्तित्व को दूसरों को समर्पित करने में जीवन का वास्तविक आनंद है और यह मदर टेरेसा ने सिद्ध कर दिखाया।

पुरस्कार ग्रहण करते समय मदर टेरेसा ने कहा कि यह सम्मान दुनिया के गरीबों का सम्मान है और मैं इसे दुनिया के गरीबों के नाम पर स्वीकार करती



हूँ। मदर ने नोबेल पुरस्कार के उपरांत दिए जाने वाले भव्य भोज में भोजन न करने के लिए विनम्रतापूर्वक मना कर दिया और कहा कि इससे धन की बर्बादी होती है, इस धन से गरीबों को भोजन कराना चाहिए। यह माँ टेरेसा के विनम्र व्यक्तित्व का ही प्रभाव था कि नोबेल पुरस्कार समिति की ओर से इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया गया।

मदर को यँ तो अपने जीवन में लगभग 124 पुरस्कार व सम्मान प्राप्त हुए परंतु मदर ने कभी भी पुरस्कार की कामना नहीं की। उनको इस प्रकार के आयोजनों में जाने पर बैचैनी-सी महसूस होती थी।

मदर टेरेसा को भारत का सर्वोच्च सम्मान 'भारत रत्न' 1980 में भारत के राष्ट्रपति श्री एन. संजीवा रेड्डी जी द्वारा प्रदान किया गया। मदर से पहले भारत का सर्वोच्च सम्मान मात्र 17 विशिष्ट भारतीय नागरिकों को प्राप्त हुआ था। मदर टेरेसा यह सम्मान प्राप्त करने वाली प्रथम गैर-भारतीय महिला थीं,

जिन्हें किसी प्रकार भी किसी भारतीय से कम करके भी नहीं आँका जा सकता।

मदर का जन्म भारत में नहीं हुआ था, किंतु वह हम-आप जैसे किसी भारतीय से कम भी नहीं थीं, क्योंकि हमने तो भारतवर्ष की पवित्र भूमि पर जन्म लिया है, हमारा तो नैतिक दायित्व बनता है कि हम इस मातृभूमि की सेवा करें, यहाँ के निवासियों के सुख-दुख के भागीदार बने, किंतु दूर देश से सुख-सुविधाओं को छोड़कर इस भूमि का हो जाना अपने-आप में मदर टेरेसा जैसा महान व्यक्तित्व ही कर सकते हैं।

सच ही कहा है कि “किसी को अपना बना लो या किसी के हो जाओ”। मदर टेरेसा ने इस उक्ति को सच कर दिखाया। भारत भूमि के असहाय, निर्बल और कुष्ठ रोगियों को उन्होंने अपनाया और वह सभी उनके हो गए।



## रास्ता मिल गया प्रभुजी की पुकार

‘वृक्ष के फलों का उपयोग मनुष्य अथवा अन्य प्राणी करते हैं, नदियाँ स्वयं अपना जल नहीं पीतीं और खेतों को लहलहाने वाले मेघ स्वयं अन्न का उपभोग नहीं करते, क्योंकि सज्जनों का अस्तित्व ही परोपकार के लिए होता है’।

ये पंक्तियाँ ममता की मूर्ति माँ टेरेसा की जीवन पर अक्षरशः चरितार्थ होती हैं। उनका जीवन दुखियों, दरिद्रों, भूखों, पीड़ितों, रोगियों, विकलांगों की सेवा का पर्याय बन गया था।

अपने लिए कौन जीवित नहीं रहता, मानव हो या पशु-पक्षी, अपना उदर-पोषण तो सभी करते हैं, किंतु इसे न तो कोई उपलब्धि कहा जा सकता है और न ही जीवन की सार्थकता।

आज एक ओर अनंत का भी अंत पाने के प्रयास हो रहे हैं, वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव जीवन की सुख-सुविधाओं के लिए अनेक असंभव प्रतीत होने वाले कार्यों को भी संभव कर दिखाया है। वहीं हम मानव समाज की मूलभूत आवश्यकताओं की उपेक्षा जैसी कर रहे हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों पर, चाँद-सितारों तक पहुँचने के लिए विश्व के अनेक राष्ट्र करोड़ों, अरबों की धनराशि व्यय कर रहे हैं, किंतु समाज के उपेक्षितों, दुखियों, पीड़ितों पर प्रायः नहीं के बराबर ही ध्यान दिया जाता है।

बस इसी ज्वलंत समस्या को पहचाना था, ममतामयी माँ टेरेसा ने। यही उनकी विशिष्टता थी, यही उनकी महानता थी। दुखियों, उपेक्षितों, पीड़ितों की सेवा ही उनके जीवन का लक्ष्य था, जिसे वह प्रभु की सेवा मानती थीं, यीशु के आदर्शों का सच्चा अनुसरण—अनुकरण मानती थीं।

अपने इस लक्ष्य पर न तो उन्हें कोई गर्व था, न अभिमान। वे इसे अत्यंत सहज भाव से लेती थीं। वस्तुतः उनकी यह सहजता और सामान्यता ही उनकी महानता थी, उनकी विशेषता थी, लोकोत्तरता थी। उनकी इसी विशिष्टता के कारण विश्व उनके समक्ष श्रद्धा से नत हो जाता था। इसलिए वे माँ थीं, ममता की, प्रेम की, स्नेह की मूर्ति थीं।

विश्व की इस निरूपम विभूति का आविर्भाव 27 अगस्त, 1910 ई० के दिन यूगोस्लाविया के स्काजे नामक नगर में हुआ था। उनका परिवार मूलतः अल्बेनियेन था। माता-पिता ने नवजात बालिका का नाम एग्नेस गोनाक्सा बैजाक्सिउ रखा।

इस बालिका के जन्म के समय कदाचित् न तो आकाश से कोई सितारा चमका, न वहाँ से कोई देवदूत ही धरा पर उतरा और न ही कोई भविष्यवाणी हुई कि एक दिन यह बालिका अपने शुभ कर्मों के आलोक से मानवता को एक नया मार्ग दिखाएगी।

यह भी एक अद्भुत संयोग है कि माँ टेरेसा के आविर्भाव तथा सेवा-भाव की मूर्त रूप फ्लोरेंस नाइटिंगेल के धरा से तिरोभाव का वर्ष एक ही है।

माँ टेरेसा की जन्मभूमि ही यूगोस्लाविया रही हो, किंतु महापुरुषों का जीवन किसी विशेष स्थान की थाती नहीं होता। वे संपूर्ण मानवता के पथप्रदर्शक होते हैं, उनका व्यक्तित्व सार्वजनिक और सार्वभौमिक संपत्ति बन जाता है। “बसुधैव कुटुंबकम्” अथवा “सबै भूमि गोपाल की यामै अटक कहाँ” जैसी उक्तियाँ ऐसी ही महान विभूतियों की महिमा को इंगित करती हैं।

• • • • •

एग्नेस गोनाक्सा बैजाक्सिउ अपने माता-पिता की चार संतानों—दो भाइयों व दो बहनों में से एक थीं। अपनी अन्य संतानों के समान ही उनके माता-पिता ने उन्हें भी प्रारंभिक शिक्षा हेतु स्थानीय सरकारी स्कूल भेजा। परिस्थितियाँ, संयोग, घटनाचक्र मानव जीवन में विचित्र खेल खेलते हैं। इसलिए कुछ लोग



समय को बलवान कहते हैं। वास्तव में यह सत्य भी है, इस अर्थ में सत्य नहीं कि समय कोई मूर्त वस्तु है, अपितु इस अर्थ में कि समय ही इतिहास का निर्माण करता है। समय के साथ शिशु किशोर, किशोर युवा, युवा प्रौढ़ और प्रौढ़ वृद्ध हो जाता है। यही नहीं कभी-कभी समय-समय पर घटी घटनाएँ



मानव जीवन में एक महान परिवर्तन भी कर देती हैं। मानव की चिंतन धारा उसके जीवन-दर्शन को भी बदल देती है।

सन् 1914 ई० में यूरोप में महाविनाशक प्रथम विश्वयुद्ध प्रारंभ हुआ, जिसने वहाँ के जन-जीवन को उद्वेलित कर दिया। माँ (जो उस समय चार वर्ष की बालिका एग्नेस गोनाक्सा बैजाक्सिउ ही थीं) के बाल मन पर भी इस घटना का गहरा प्रभाव पड़ा।

युद्ध की विभीषिका इतिहास का एक दुखद अध्याय थी। यह विभीषिका

अभी थमी भी न थी कि बालिका अग्नेस को एक भयंकर आघात का सामना करना पड़ा। अभी वह केवल सात वर्ष की अबोध बालिका ही थीं कि उनके पिता परलोक सिधार गए।

मृत्यु सृष्टि का एक शाश्वत नियम है। सभी को काल के अविराम घूमते चक्र के मृत्यु रूप बिंदु का सामना करना पड़ता है। जन्म जीवन का प्रारंभ है, तो मृत्यु उसका अंत। जन्म-मृत्यु के बीच की अवधि ही जीवन है।

एक ओर विश्वयुद्ध की विभीषिका से उत्पन्न मानव जीवन की अस्थिरता तथा अनिश्चितता, दूसरी ओर पिता की मृत्यु, निश्चय ही इसका अग्नेस के उस बाल मन पर गहरा प्रभाव पड़ा।



समय-चक्र गतिमान रहा। इसके साथ ही एग्नेस गोनाक्सा बैजाक्सिउ बालिका से किशोरी और किशोरी से युवती बन गई। संभवतः उस समय किसी ने कल्पना भी न की होगी कि एक दिन वह विश्व की सर्वाधिक श्रद्धास्पद व्यक्तित्व, सर्वाधिक लोकप्रिय और दीन-दुखियों की उद्धारक बनेंगी।

भविष्य अचिंतनीय, अकल्पनीय, अदृश्य तथा अज्ञात होता है। अपने स्कूली जीवन में ही “सोलाडिटी” से उनका संपर्क हुआ। वह संस्था की सदस्या बन गई। यहीं से उनके जीवन को एक नई दिशा मिली, उनके विचारों को चिंतन का एक नया आयाम मिला। अंततः इस नई दिशा ने, इस नए चिंतन ने ममता की मूर्ति माँ टेरेसा का निर्माण किया।

शैशव बीता, किशोरावस्था भी बीत गई।

घर में सभी प्रकार का सुख था। अभाव या दुख जैसी कोई चीज न थी, किंतु अग्नेस को तो माँ बनना था, अनेक निराश्रितों, दुखियों, उपेक्षितों की माँ। विश्व की माँ, विश्वजननी बनना था।

विश्वजननी भला एक ही जननी कैसे बन सकती थी? वह कितनी संतानों की माँ थीं? निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। उनकी कितनी ही संतानें नया जीवन पाकर सुखों का भोग कर रही हैं। कितनी ही संतानें भारत में ही नहीं विदेशों में भी उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुकी हैं।

जिनके जन्म देने वालों का कोई पता तक नहीं, ऐसे कितने ही व्यक्तित्व माँ की ममता का संबल पाकर नए जीवन में प्रवेश कर चुके हैं, कितनी ही

अबलाएँ अपनी गृहस्थी बसा चुकी हैं। कितने ही परित्यक्त शिशु माँ की ममता पाकर शैशव का सुख भोग किलकारियाँ मार रहे हैं।

कितने ही विकलांग, मूक-बधिर माँ के शिशु-सदनों में सामान्य जीवन जी रहे हैं। शिशु-सदनों की बहनों से उन्हें जो स्नेह-ममता मिलती है, उसमें उन्हें यह आभास भी नहीं होता कि वे अनाथ हैं। लेकिन जब माँ हमारे बीच नहीं हैं, वे स्वयं को अनाथ महसूस कर रहे हैं।

• • • • •

माँ का विद्यार्थी जीवन चल ही रहा था, उसी समय यूगोस्लाविया के जेसुइट्स ईसाई धर्म प्रचारकों ने कोलकाता में कार्य करना समीचीन समझा। उन्हें इसकी अनुमति भी प्राप्त हो गई।

जेसुइट्स का पहला दल 30 दिसंबर, 1925 को कोलकाता पहुँचा। यहीं से जेसुइट्स अपने कार्य को आगे बढ़ाने में जुट गए। इन्हीं में से एक व्यक्ति कर्सियांग गया।

कर्सियांग के जेसुइट ने यहाँ कार्य के विषय में अपनी जन्मभूमि को अनेक पत्र लिखे। इन पत्रों में मिशन के कार्य-क्षेत्र की प्रशंसा की गई थी तथा इन पत्रों में बंगाल में कार्यरत जेसुइट के प्रचारकों के कार्य का उत्साहजनक वर्णन किया गया था।

कर्सियांग से भेजे गए ये पत्र माँ टेरेसा के स्कूल में सोसाइटी के सदस्यों को पढ़ाए जाते थे।

• • • • •

प्रायः बारह-तेरह वर्ष की अवस्था में ही ये पत्र पढ़ने-सुनने को मिले। कहाँ कर्सियांग, कहाँ यूगोस्लाविया, किंतु अग्नेस को तो टेरेसा बनना था। इन पत्रों को पढ़कर उनके मानस में भारत का बिंब स्वतः उभरने लगा।

उन्होंने भारत आने का निश्चय कर लिया। इतनी अल्प अवस्था का यह निश्चय अवस्था के अनुसार अपरिपक्व या अस्थायी सिद्ध नहीं हुआ। किशोरावस्था और भविष्य के दृढ़ निश्चय कहने और सुनने में भले ही असंभव लगे किंतु माँ के दृढ़ निश्चय ने इसे सिद्ध कर दिखाया।

कहाँ एक अबोध बालिका, कहाँ एक ऐसा दृढ़ निश्चय? न कोई पारिवारिक

दुख, न कोई अभाव, फिर भी अपने भाई—बहन व माँ, परिवार सब कुछ छोड़कर उन्होंने भारत आने का निश्चय कर लिया। कहाँ यूगोस्लाविया, और कहाँ भारत का पूर्वी प्रांत बंगाल। आखिर इसके पीछे क्या कारण था? इस भूमि ने उन्हें क्यों आकर्षित किया? इसका उत्तर माँ के अनुसार ईश्वर की प्रेरणा ही थी। माँ के इस मत में संदेह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि कर्सियांग के जेसुइट सदस्यों के पत्र तो सभी को पढ़ाए जाते थे, फिर यह प्रेरणा केवल माँ को ही क्यों मिली?

महाकवि कालिदास ने लिखा है—“सभी प्रकार से सुखी होने पर भी यदि मनुष्य रमणीय दृश्यों को देखकर तथा मधुर शब्दों को सुनकर उत्सुक हो जाता है, तो अवश्य ही उसका चित्त किसी पूर्व संबंध के कारण ही उत्सुक होता है।”

तो क्या माँ टेरेसा का इस भूमि से पूर्व जन्म का कोई संबंध रहा होगा? यदि नहीं तो वह सब कुछ छोड़कर इस संन्यासी जीवन का वरण क्यों करतीं?

उनके घर के विषय में पूछे जाने पर माँ का यही उत्तर होता था कि उनका घर तो सुख की सेज था, छात्र जीवन से ही उन्हें इस ईश्वरीय प्रेरणा का अनुभव होने लगा था। इस प्रेरणा में वह संन्यासिनी बनने का विचार करने लगीं, तब उन्हें घर के त्याग की कल्पना सहसा विचलित भी कर देती थी। किंतु अंतःप्रेरणा पुनः—पुनः उन्हें प्रेरित करती रहती थी।



इस प्रेरणा ने अंततः उनके इस द्वंद्व पर विजय पा ली। उन्होंने निश्चय कर लिया कि उन्हें जाना होगा। महानतम उद्देश्य के लिए, मानवता को नया मार्ग दिखाने के लिए, ममता का आलोक लेकर।

क्षुद्र स्वार्थी, निजी सुख—सुविधाओं, व्यक्तिगत जीवन के ऐश्वर्यों का बलिदान करना ही होगा। सृष्टि के लिए व्यष्टि के सुख छोड़ने ही होंगे, मैं वहीं हूँ, सब मेरा ही स्वरूप है, सब ईश्वर का ही रूप है, फिर मैं इससे पृथक् हूँ ही कहाँ? दरिद्र नारायण की सेवा ही ईश्वर की सेवा है, प्रभु यीशु के आदर्शों का सच्चा अनुकरण है।

संशयों का अन्त हो गया। दृढ़ संकल्प शक्ति के समक्ष संशय, द्वंद विलीन हो गए। माँ ने इन सुखों को तिलांजली देने का संकल्प ले लिया, जिनके पीछे

संसार भागता है।

मैं केवल मैं ही नहीं हूँ। यह समस्त मेरा ही विराट स्वरूप है। दीन-दुखियों के दुख मेरे हैं, संभवत-माँ इसी निश्चय पर पहुँच गई थीं। किशोरावस्था पार करने के बाद माँ ने संन्यासिनी बनने का संकल्प ले लिया था, वह कोलकाता आने की इच्छा कर रही थीं। अपनी इस इच्छा को उन्होंने संबंधित मिशनरीज के समक्ष रखा।

उनका संकल्प विजयी हुआ। वास्तव में दृढ़ संकल्प शक्ति के सामने दुनिया की कोई बाधा नहीं ठहर सकती, किंतु जनसामान्य में इस दृढ़ संकल्प शक्ति का आभास होता है। यही कारण है कि जन सामान्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में पूर्ण सफल नहीं होता है।

उनकी इस संकल्प शक्ति ने उन्हें अग्नेस गोनाक्सा बेजाक्सिउ से 'मदर टेरेसा' बना दिया। मदर टेरेसा अर्थात् ममता का मूर्त रूप, स्नेह की मूर्ति माँ टेरेसा। विश्व को मानवता का एक अभूतपूर्व मार्ग दिखाने वाली माँ जन्मदात्री न होने पर भी विश्वजननी। ममतामयी माँ। करुणा की मूर्ति माँ टेरेसा।

दरिद्र नारायण की सेवा में रत। प्रभु ईशु की सच्ची अनुगामिनी। उनकी शिक्षाओं का मूर्त रूप।

उनका परवर्ती जीवन व्यक्तिगत न रहकर सार्वजनिक हो गया। दुखियों की सेवा ही उनके सुखों का उत्सव बन गया।

उन्होंने सिद्धांत पक्ष को जनसामान्य के लिए आदर्श समझे जाने वाले कार्य को क्रियात्मक रूप में परिणत कर दिखाया।

## आमर भारत भारत मेरा है

माँ आत्मश्लाघा से दूर रहना चाहती थीं। प्राचीन भारतीय मनीषियों में स्वजीवन चरित्र-लेखन की परंपरा आदि से ही नहीं रही।

क्या हुआ जो माँ जन्मना भारतीय नहीं थीं तो! कर्म से, विचारों से, रहन-सहन आदि से वह सर्वथा भारतीय थीं। उनका पहनावा नीले किनारे की सफ़ेद सूती धोती, भूमि पर बैठना, सभी कुछ तो भारतीय था।

वह अपने अतीत का न तो कहीं उल्लेख करती थीं, न यह चाहती थीं कि उनकी जीवनी उनके जीवन-काल में लिखी जाए।

अपने विषय में कहीं उल्लेख न करने के कारण आज हम अपने देश के अनेक मनीषियों व महान विभूतियों के विषय में कुछ नहीं जानते, केवल उनके महनीय कार्यों अथवा उनकी रचनाओं से ही पता चलता है कि ऐसी महान विभूति इस धरा पर कहीं थीं। आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं, विश्व एक इकाई बन गया है। अतः ऐसी किसी विभूति का कालांतर में विस्मृति के गर्त में खो जाना संभव न हो सकेगा।

यह सब जानकर ही माँ अपनी जीवनी अपने जीवन-काल में लिखने के विरुद्ध थीं। क्या उनका यह गुण आदि भारतीय मनीषियों एवं महापुरुषों की परंपरा नहीं थी?

इसलिए माँ किसी भारतीय से मिलने पर कहती थीं, “आप जन्म से

भारतीय हैं, इसे संयोग ही कहा जाएगा, किंतु मैं स्वयं भारतीय बनी हूँ।”

वस्तुतः भारतीय के रूप में जन्म लेना एक संयोग है। इसका श्रेय हम भारतीयों को नहीं दिया जा सकता, किंतु माँ स्वयं भारतीय बनी थीं। अतः इसका श्रेय पूर्णतः उन्हें मिलना ही चाहिए।

इस प्रसंग में हमें महाभारत के अप्रतिम महारथी कर्ण का स्मरण हो आता है। बेचारा कर्ण, अविवाहित माँ की संतान कर्ण, जिसे लोक-लाज के भय से माँ नदी की गोद में विसर्जित कर देती है। संयोग से वह एक सूत को मिल



जाता है। संतानहीन सूत ही उसका पालन-पोषण करता है। हीरा तो हीरा ही रहता है, चाहे वह जौहरी के पास रहे अथवा धूल में पड़ा हो। उसकी चमक स्वयं बता देती है कि वह हीरा है।

परिस्थितियाँ कर्ण का साथ देती हैं, दुर्योधन उसे राजा बना देता है, यह बाद की बात है। किंतु रूढ़ियों में जकड़ा भारतीय समाज उसकी योग्यता को न देखकर उसके कुल-गोत्र आदि को देखता है। उसे राजकुमारों के साथ किसी भी प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए सर्वथा अयोग्य समझा जाता है। तब कर्ण कह उठता है—“मैं सूत हूँ, सूतपुत्र हूँ, या जो कोई भी हूँ, इसमें मेरा क्या दोष? किसी भी कुल में जन्म लेना दैवाधीन है, जबकि पौरुष का परिचय

देना मेरे अपने वश में है।”

कर्ण कहता है कि किसी भी खानदान में जन्म लेना मेरे वश में नहीं है, हाँ, वीरता का परिचय देना मेरे वश में है। नीच कुल में जन्म लेना मेरी अयोग्यता का परिचायक कैसे हो सकता है? क्योंकि यह मेरे वश में नहीं है। जो मेरे वश में है, वही मेरा परिचय है।

माँ टेरेसा का कथन था, “मेरा जन्म भारत में नहीं हुआ, किंतु मैं स्वयं भारतीय बन गई हूँ।” इन दोनों में से किसे महान कहा जाएगा? निश्चय ही जो अपने कर्मों से भारतीय हो। परंपरागत रूप से संपन्नता प्राप्त होने पर यदि कोई उन्नति कर भी ले, तो इसमें उसे अधिक श्रेय नहीं दिया जा सकता, किंतु जो अपने बलबूते पर उन्नति करे, वह निश्चय ही महान है।

यदि हम धार्मिक दुराग्रहों से मुक्त होकर विचार करें, तो कर्ण सभी पांडवों से कहीं अधिक महान प्रतीत होता है। माँ टेरेसा भी जन्मजात भारतीयों से महान थीं।

इसे भी एक विचित्र संयोग ही कहा जाएगा कि माँ टेरेसा से कितने ही मातृ-परित्यक्त कर्णों को एक नया जीवन मिला।

• • • • •

माँ द्वारा भारत आने की इच्छा प्रकट किए जाने के बाद वह आयरलैंड की इसाई संयासिनियों के संपर्क में आईं। यह संपर्क उनके जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना बनी।

29 नवंबर, 1928 ई० का शुभ दिन उनके जीवन का एक महत्वपूर्ण व उल्लेखनीय दिन था। इसी दिन उन्होंने भारत प्रस्थान किया। पहले वे थर्फोर्फहेम, डब्लिम (आयरलैंड) में लोरेटो अबे पहुँचीं। वहाँ से वे भारत आईं।

उनके चरणों के पावन स्पर्श से यह भूमि धन्य हो गई। अब उनके लिए भारत, भूमि ही उनकी भूमि हो गई थी। जन्मभूमि न सही कर्मभूमि तो निश्चय ही। यहीं से उनके जीवन के इतिहास का एक अविस्मरणीय एवं स्वर्णिम अध्याय प्रारंभ हुआ।

यहीं आकर वह ‘मदर टेरेसा’ बनीं।

भारत आकर उन्हें लगा कि यही वह भूमि है, जहाँ उनकी महती आवश्यकता है। उन्हें इसकी अनुभूति इस धरती पर पग रखते ही हो गई थी

कि उन्हें इस भूमि को अपनी कर्मभूमि बनाना है।

माँ का भारत आगमन एक संयोग मात्र था, अथवा उनके पीछे अदृष्ट की कोई भूमिका थी, इस विषय में निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। माँ के अनुसार तो सभी कार्यों के पीछे परमात्मा की ही प्रेरणा रही थी।

वे यहाँ क्यों आईं ? इस प्रश्न पर बहस सर्वथा निरर्थक ही होगी। वह यहाँ आईं यही महत्त्वपूर्ण है। भारत आने के बाद माँ पहले दार्जिलिंग पहुँचीं, उसके बाद वह पुनः कोलकाता लौट आईं। यहीं से उनका कर्मक्षेत्र में अवतरण हुआ।

कर्मक्षेत्र में यह अवतरण एक अध्यापिका के रूप में हुआ। यहाँ वह सेंट मेरी हाई स्कूल में भूगोल पढ़ाती थीं। यह स्कूल कोलकाता में इटाली क्षेत्र में स्थित था। यहीं उन्होंने 18 वर्षों तक अध्यापन कार्य किया।

अपने इस अध्यापन-काल में उन्हें दीन-दुखियों की समस्याओं को निकट से देखने का अवसर मिला। कुछ वर्षों तक वह इस स्कूल की अध्यक्ष भी रहीं। यहीं उन्हें लोरेटो की सिस्टर्स के साथ परोक्ष रूप में 'डॉटर्स ऑफ सेंट एन' का उत्तरदायित्व भी मिला।

सेंट मेरी स्कूल के समीप ही निम्नवर्गीय मोतीझील की बस्ती थी। इसी बस्ती में माँ का सर्वप्रथम विपन्नता से साक्षात्कार हुआ। प्रभु यीशु की सच्ची शिष्या को उनका कार्यक्षेत्र मिला।

दरिद्रों-दुखियों का दुख देकर माँ का ममत्व मुखरित हो उठा। उनका हृदय चित्कार कर उठा। स्कूल में अध्ययन-अध्यापन के समय माँ स्कूल में रहतीं और थोड़ा भी समय मिलने पर मोतीझील की बस्ती में जा पहुँचतीं। वहाँ माँ बस्ती के बच्चों को बुलातीं, उनका दुख-दर्द सुनतीं, प्रायः यह कार्य स्कूल के मध्यांतर काल में होता था।

वहाँ से लौटने पर भी उनके हृदय में उन्हीं बच्चों के चित्र घूमते रहते। उनके इस कार्य का वर्णन करते हुए श्री सुदेव राय चौधरी ने लिखा है—“सेंट मेरी स्कूल की दीवार के बाहर मोतीझील बस्ती थी। इसी बस्ती में माँ टेरेसा ने सबसे पहले दरिद्रता से साक्षात्कार किया। दरिद्र नारायण की सेवा में उनका मन रो उठता। स्कूल की आधी छुट्टी के समय वे मोतीझील की बस्ती में चली जाती थीं। कच्चे घरों के आँगन में बैठकर लड़के-लड़कियों के सुख-दुख सुनतीं। लौटकर कक्षा में बैठकर दरिद्र माता-पिता की निष्पाप संतानों की

दुख-दुर्दशा का चित्र उनकी आँखों के आगे तैर जाता। पढ़ाना बंद कर छात्राओं को बुलाकर कहतीं, “तुम घर से रोज़ आधी छुट्टी के लिए खाना लाया करो। सप्ताह में एक दिन का खाना क्या तुम सामने की बस्ती में रहने वाले लड़के-लड़कियों को नहीं दे सकते ?

माँ की बात पर सभी हाथ उठाकर सहमति प्रकट करते। दिन-पर-दिन यह सारा दृश्य देखने के बाद उनके भीतर और बाहर प्रबल उथल-पुथल उत्पन्न हो गई, मानो किसी ने हृदय के द्वार पर थपकी दी हो। वे फिर रुक न सकीं। बड़े दिन से पहले ट्रेन पर दार्जिलिंग जाने के दौरान उनका मन उलट-पलट हो गया। ऐड्रियाटिक की विशालता और हिमालय का विराटत्व इन दोनों के सम्मिश्रण से गठित उनके देह-मन में एक परिवर्तन का ज्वार उठा। वही दिन उनके निर्णय लेने का दिन हुआ।

दीन-दुखियों के प्रति उनके हृदय में अंकुरित करुणा का यह बीज आने वाले समय में निरंतर पल्लवित होता रहा। समय के साथ-साथ इसमें अनेक शाखाएं-प्रशाखाएं फूटीं और इसने एक विशाल वृक्ष का रूप ले लिया।

एक निर्मल दर्पण ही प्रतिबिंब का यथारूप ग्रहण कर सकता है। इसी प्रकार एक स्वच्छ निर्मल हृदय ही परमात्मा की पुकार को सुन सकता है। माँ के हृदय में यह पुकार प्रथम बार तब उठी थी जब वह स्कूल की विद्यार्थी थीं।

10 सितंबर, 1946 को माँ रेलगाड़ी से दार्जिलिंग जा रही थीं। उसी समय उनके अंतःकरण में एक ईश्वरीय प्रेरणा प्रादुर्भूत हुई। गाड़ी जा रही थी, उसी समय माँ को लगा कि जैसे कोई उनसे कह रहा हो, तुम्हें सब कुछ त्यागकर उसका अनुसरण करना है, उसकी सेवा करनी है और उसकी यह सेवा दुखियों, दरिद्रों, निराश्रितों, अबलाओं, रोगियों आदि की सेवा में ही है।

माँ ने इस ईश्वरीय आवाज़ को सुना तब से माँ पूर्णतया: अपने इस उद्देश्य के प्रति समर्पित हो गईं।

माँ का कहना था कि यह सब ईश्वर की ही प्रेरणा थी। दुखी, दरिद्रों, दीन-हीन, पीड़ित, दलित सब प्रभु यीशु का ही रूप हैं, क्योंकि प्रभु यीशु ने कहा था, मैं भूखा हूँ, मुझे भोजन दो। मैं वस्त्रहीन हूँ, मुझे वस्त्र दो। मैं आश्रय विहीन हूँ, मुझे आश्रय दो। मैं प्रेम के लिए कंगाल हूँ, मुझे प्रेम दो। यीशु प्रेम के ईश्वर थे, वही बच्चों के रूप में अनाथ होकर, पंगु होकर इनमें शिशु-सदन के बच्चे के रूप में विद्यमान हैं।

माँ ने दरिद्र नारायण की सेवा के लिए ईश्वर की यह वाणी सुनी। यहाँ कुछ लोग यह आशंका व्यक्त करेंगे कि ऐसी अनुभूति माँ को ही क्यों हुई? इसके उत्तर में हम पहले ही लिख चुके हैं कि एक स्वच्छ, निर्मल दर्पण ही स्वच्छ प्रतिबिंब को ग्रहण कर सकता है। माँ का हृदय स्वच्छ, निर्मल और निष्कलुश था, अतः कोई आश्चर्य नहीं कि उन्हें ही यह ईश्वरीय वाणी सुनाई दी।

माँ का कथन था कि हमें सोते-जागते प्रतिपल ईश्वर के पावन अस्तित्व का अनुभव होता है। बी.बी.सी. लंदन से संबद्ध रहे मैल्कम मैगरिज ने अपनी पुस्तक 'समथिंग ब्यूटीफुल फॉर गॉड' पुस्तक में एक घटना का उल्लेख किया है—बी.बी.सी लंदन के दूरदर्शन के लिए एक टेली फिल्म बनाई जानी थी। इस कार्य के लिए मिस्टर मैल्कम मैगरिज कोलकाता आए। फिल्म माँ टेरेसा और मिशनरीज ऑफ चैरिटी पर बनाई जा रही थी।

फिल्म बनाने वाला यह दल माँ की करुणा से अस्तित्व में आए 'निर्मल हृदय' (कालीघाट, कोलकाता) आया। फिल्म बनने लगी। कैमरामैन का मत था कि कमरे के अंदर फिल्म ठीक नहीं बनेगी, अतः फिल्म बाहर प्रकाश में बनाई जाए। फिल्म बाहर बनाई गई। इसके बाद कुछ कार्य शेष रह जाने पर कमरे के अंदर का चित्र भी ले लिया गया।

इस दल को विश्वास था कि कमरे के अंदर के चित्र नहीं आएँगे, यदि आएँगे भी, तो वे अच्छे नहीं होंगे। फिल्म बन गई थी। बाद में फिल्म डेवलप की गई, किंतु यह देखकर सभी के आश्चर्य की सीमा न रही कि बाहर प्रकाश में खींची गई फिल्म की तुलना में अंदर अँधेरे में ली गई फिल्म अधिक साफ़ आई थी, जबकि ऐसी संभावना कम थी।

इस घटना के विषय में पूछे जाने पर माँ का उत्तर था कि यह घटना सत्य है। इसमें आश्चर्य करने अथवा विचित्र जैसी बात नहीं है। परमात्मा प्रतिदिन, प्रतिपल अपने पावन अस्तित्व का आभास कराता रहता है। हम किसी-न-किसी घटना में उसके अस्तित्व का अनुभव कर सकते हैं। माँ ने यह दिव्यवाणी अपने अंतःकरण में सुनी। ईश्वरीय आदेश था, जिसकी अवहेलना करने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

दिव्य संदेश, दरिद्रों की सेवा के लिए सर्वतोभावेन समप्रण का संदेश। माँ ने संदेश पर विचार किया। बार-बार यह अनुभूति उनके हृदय के द्वार खटखटाती

रहती। उस समय माँ स्कूल की अध्यापिका थीं, इस अनुभूति के कारण तत्काल दरिद्रों की सेवा के लिए यह समर्पण सरल न था। एक ओर सांसारिक कर्तव्य, दूसरी ओर ईश्वरीय आदेश। यह द्वंद प्रायः दो वर्षों तक चलता रहा। अंततः ईश्वरीय आदेश की विजय हुई। माँ लोरेटो छोड़ देना चाहती थीं। इसके लिए वह मिशन के अधिकारियों से अनुमति लेना आवश्यक समझती थीं।

अध्यापिका के कार्य से मुक्त होने की अनुमति लेने में प्रायः—दो वर्षों का समय लग गया। अधिकारियों से अनुमति मिल गई। यह अनुमति माँगते समय उन्होंने अपने भावी कार्य का स्पष्ट उल्लेख कर दिया था। यहाँ से अनुमति मिल जाने पर उन्होंने रोम से अनुमति माँगी। वहाँ से शीघ्र ही इस शुभ कार्य की अनुमति मिल गई।

अब माँ पूर्णरूपेण दुखियों की सेवा के लिए कर्मक्षेत्र में उतर पड़ीं।

18 अगस्त, 1948 के दिन माँ ने एक नए जीवन में प्रवेश किया—दरिद्र नारायण के जीवन में। उन्होंने अपने पूर्व परिधान का भी परित्याग कर दिया। ईसाई सिस्टर्स के वस्त्रों को तिलांजलि दे दी, अपने पूर्व रूप का परित्याग कर दिया, और एक नया रूप, परिधान धारण कर लिया।

वे समग्र रूप से भारतीय बन गईं। बिना समग्र रूप से भारतीय बने, बिना दलितों के रहन-सहन को आत्मसात् किए, भला उनके दुखों से कैसे परिचित हुआ जा सकता था?

पूर्व वस्त्रों का परित्याग कर उन्होंने भारतीय वस्त्र साड़ी अपना ली और हाँ, यह साड़ी किसी संभ्रांत अथवा मध्यवर्गीय महिलाओं की साड़ी नहीं, यह वह साड़ी थी जिसे पहनने से भी आम महिलाएँ संकोच करतीं। यह कोलकाता के उस समय के सफाई कर्मियों की वर्दी थी।

वनवास के लिए जाते समय भगवान राम ने अपने राजसी वस्त्र उसी प्रकार त्याग दिए थे, जैसे पानी काँई को छोड़कर आगे बढ़ जाता है। माँ ने उसी प्रकार अपने अध्यापिका जीवन के वस्त्र त्याग दिए। वस्त्र ही नहीं अपना सर्वस्व त्याग दिया, वह स्कूल, जहाँ उन्होंने इतने लंबे समय तक अध्यापन किया था, वे अध्यापिकाएँ, जिनके साथ पढ़ाया और विद्यार्थी भी। लोरेटो के बहुमूल्य सुंदर वस्त्रों को त्याग दिया। नीले पाड़ की सफ़ेद साड़ी, पूरी बाहों का ब्लाउज ही उनका नया परिधान बन गया। इसी परिधान को उन्होंने अपने मिशन की संन्यासिनियों के लिए चुना।

केवल परिधान ही नहीं रहन-सहन, आहार-व्यवहार आदि सभी कुछ भारतीय अपना लिया। घुटने मोड़कर ज़मीन पर बैठना, भात, दाल, सब्जी थाली में लेकर हाथ से खाना, कपड़ों को बाल्टी में भिगोकर फर्श पर पटक-निचोड़कर धोना इत्यादि सभी कुछ अपना लिया।

पूर्ण रूप से भारतीय बनने के लिए भारतीयता को, भारतीय आहार-व्यवहार को अपनाना माँ ने नितांत आवश्यक समझा। भला निम्न वर्ग के पूर्ण रहन-सहन को अपनाए बिना उसका दुख-दर्द कैसे समझा जा सकता था ?

यह माँ का सदेह पुनर्जन्म था अथवा इसे वैचारिक कायाकल्प भी कहा जा सकता था। अब वह सर्वथा बंधनहीन हो गई थीं, उन्होंने अपने अतीत को विदा दे दी।



पास में भौतिक साधनों का अभाव होने पर भी मानवता की सेवा के लिए कर्मभूमि में उतर पड़ीं, किंतु कार्य की सिद्धि साधनों से नहीं, अपितु सत्त्व से, दृढ़ संकल्प शक्ति से होती है।

अपने महानतम् उद्देश्य के लिए माँ ने स्वेच्छा से दरिद्र जीवन का वरण कर लिया। जिस वर्ग को भारतीय समाज अछूत समझता है, माँ ने उसी को अपना साथी बना लिया।

भारतीय वेदांत दर्शन में जीवनमुक्त को मान-अपमान, गर्व-अहंकार, सुख-दुख, ऊँच-नीच आदि से सर्वथा परे कहा गया है। इस स्तर पर पहुँच जाने पर मनुष्य गौ, ब्राह्मण, श्वान, चांडाल, अर्थात् प्रत्येक प्राणी में ही नहीं, अपित प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक स्थान में उसी एक परमात्मा को देखता है। ऐसे ही जीवनमुक्त को ज्ञानी अथवा पंडित कहा गया है, किंतु विडंबना यह कि भारतीयों ने वेदांत के इस आदर्श को तिलांजलि देकर ऊँच-नीच जैसी रूढ़ियों को अपना आदर्श बना लिया।

वेदांत दर्शन के इस महनीय आदर्श को माँ टेरेसा ने अंगीकार किया, उन्होंने समाज के उपेक्षित वर्ग की सेवा को ही अपना धर्म बनाया।

इस आदर्श को अपनाने के बाद माँ ने इसे कार्य रूप में परिणत करने का उपक्रम आरंभ किया, क्योंकि संकल्प की सिद्धि सक्रियता से ही होती है, न कि मात्र विचार करने से।

सेवा करने के लिए इस विषय में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। निम्न वर्ग की जीवनचर्या बड़ी ही दयनीय थी। गरीब बस्तियों में रोगों का सर्वाधिक प्रकोप रहता था। माँ का ध्यान सर्वप्रथम इसी समस्या की ओर गया। उन्होंने विचार किया कि सर्वप्रथम प्राथमिक उपचार तथा सामान्य औषधियों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

दलित-दुखियों की वास्तविक सेवा के लिए उन्हें स्नेह के साथ ही उन मूलभूत चीजों की भी आवश्यकता थी।

सुख-सुविधाओं को त्यागकर, दरिद्रता को अपनाने के बाद माँ पटना गई, उद्देश्य था, नर्सिंग का प्रशिक्षण प्राप्त करना। पटना में माँ अमेरिकी मेडिकल मिशनरी की बहनों (सिस्टर्स) के पास गई, जिनसे उन्हें तीन मास तक यह प्रशिक्षण प्राप्त हुआ। प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद माँ पुनः कोलकाता लौट आई। बस दरिद्रों की सेवा के लिए माँ का यह कार्य प्रथम चरण था। इसके बाद उन्होंने कभी पीछे मुड़कर न देखा, वे निरंतर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होती रहीं।

यद्यपि इस मार्ग में उन्हें अनेक बार भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किंतु माँ सदा अटल-निश्चल, अविचलित रहीं। उन्हें परमात्मा पर पूरा विश्वास था। वह जानती थीं कि बाधाएँ मानव की परीक्षा लेती हैं। यदि उद्देश्य महान हो, तो परमात्मा अवश्य सफलता प्रदान करता है। उन्होंने अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। बढ़ते रहो, तब तक, जब तक कि लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाए, यही उनका मूलमंत्र बन गया।

इसके बाद माँ एक के बाद एक सोपान चढ़ती गई। पहले बाल्यकाल में वह एग्नेस गोनाक्सा बैजाक्सिउ थीं, फिर मेरी टेरीसा बर्नी और अंततः वे ममता का मूर्त रूप माँ टेरेसा बन गईं।

माँ ने यह नाम सोलहवीं शताब्दी की एक विख्यात संन्यासिनी के नाम पर रखा। प्रायः चार सौ वर्ष पूर्व संत टेरेसा ने जीवन के सभी सुखों को त्यागकर इसी प्रकार प्रभु यीशु के आदर्शों के प्रचार के लिए अपने जीवन के अठारहवें वर्ष में ही संन्यास ले लिया था। उन्हें अपनी साथी संन्यासिनी के दुर्व्यवहार का सामना करना पड़ा था। वह अपने जन्मस्थान आडिला (स्पेन) में एक नया मिशन स्थापित करना चाहती थीं। उनके इस कार्य का स्थानीय पादरियों ने

कड़ा विरोध किया, किंतु संत टेरेसा ने इस विरोध की कोई परवाह न की, उन्हें उनके कार्य के लिए पोप की अनुमति प्राप्त हो गई। इसके बाद उन्होंने आडिला में नए मिशन की स्थापना की। उस समय उनके साथ केवल चार सहयोगिनी थीं और पूँजी के नाम पर थी एक अदम्य संकल्प शक्ति। अपनी इसी संकल्प शक्ति से उन्होंने स्पेन में धर्म-प्रचार किया।

इसी महनीय विभूति को माँ टेरेसा ने अपना आदर्श बनाया। इस विभूति से प्रेरणा ग्रहण करने में समय और दूरी का अंतराल किसी प्रकार बाधक नहीं बन सका। समय-दूरी भौतिक बाधा ही उत्पन्न कर सकते हैं, न कि किसी के संकल्प को डिगा सकते हैं, यदि वह दृढ़ हो। माँ की अदम्य-अगाध संकल्प-शक्ति के आगे कोई भी बाधा, कोई भी व्यवधान न ठहर सके।

लोरेटो में माँ बंगला माध्यम से शिक्षा देने वाले विभाग की अध्यक्ष थीं। इस पद का कार्यभार सँभालने से पूर्व माँ ने स्वयं बंगला सीखी।

यह पद माँ के भावी जीवन के लिए एक सुनहरा अवसर सिद्ध हुआ। अपने इसी जीवन की अनेक छात्राएँ बाद में माँ की सहयोगिनी बनीं। उनकी इन सहयोगिनियों में सिस्टर अग्नेस का नाम सर्वप्रथम है, जो सन् 1948 में माँ की पहली सहयोगिनी बनीं। इस शिक्षा मंदिर के अध्यापकीय जीवन से ही माँ को दीन-दुखियों की समस्याओं से परिचित होने का अवसर मिला।

इसी प्रेरणा से माँ विश्व का एक सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व बनीं।

यहीं से माँ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हुईं। आज भारत में मिशनरीज ऑफ चैरिटीज के अंतर्गत 60 से अधिक संस्थाएँ कार्य कर रही हैं।

इस संस्था द्वारा इस समय प्रायः एक सौ स्कूलों, साढ़े तीन सौ मोबाइल डिस्पेंसरियों तथा लगभग 28 परिवार नियोजन केंद्रों का संचालन हो रहा है। मिशनरीज ऑफ चैरिटीज के अधीन देश के विभिन्न नगरों में प्रायः 60-65 प्रतिष्ठान कार्य कर रहे हैं।

अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठान 'इंटरनेशनल एसोसिएशन ऑफ को-वर्कर्स ऑफ मदर टेरेसा' भी माँ की साधना का परिणाम है।

माँ केवल आहार-व्यवहार में ही भारतीय नहीं, अपितु विचारों से भी भारतीय थीं। भारत की गौरवमयी परंपराओं पर तथा यहाँ की चिंतनधारा के लिए भी उनके हृदय में भारी सम्मान था। वह संयुक्त परिवार-प्रथा की प्रबल समर्थक थीं। इस विषय में उनके निम्नलिखित शब्द उल्लेखनीय हैं—“आज

समग्र विश्व में संयुक्तता का प्रचलन हो गया है, किंतु भारत में संयुक्त परिवार के समान आदर्श और क्या हो सकता है? किंतु वही संयुक्त परिवार अब निःशेष होते जा रहे हैं। पश्चिम के पदचिह्नों पर चलने से यहाँ भी परिवार के नाम पर पति-पत्नी और उनके एक-दो बच्चे होते हैं। कुछ समय पूर्व यह अवस्था न थी। भारतीय सामाजिक जीवन को स्वस्थ और शक्तिशाली बनाने के लिए इसी संयुक्त परिवार-प्रथा की ओर हमें लौटना होगा।”

भारत की संयुक्त परिवार-प्रथा को माँ पारिवारिक स्नेह के लिए नितांत आवश्यक समझती थीं। जन्म से पश्चिमी देशों के खंडित परिवारों को स्वार्थ-परायणता का ही एक रूप समझती थीं। वह नहीं चाहती थीं कि भारत इस विषय में पश्चिमी देशों का अंधानुकरण करे। उनका स्पष्ट मत था कि यदि भारत को भारत रहना है और अपने समाज को शक्ति-संपन्न बनाना है, तो उसे अपने संयुक्त परिवार की स्वस्थ परंपरा को पुनः अपनाना होगा।

पश्चिमी जगत की स्वार्थ-परायणता को अपनाना माँ टेरेसा भारत के लिए हानिकारक समझती थीं। वहाँ आज वृद्ध लोग उपेक्षितों जैसा जीवन बिताने के लिए बाध्य हो जाते हैं। इस अपनत्व-विहीन एकाकीपन को माँ मानवता के लिए दुसाध्य रोग समझती थीं। विपन्न होने पर भी भारतीय संतुष्ट रहते हैं, किंतु पाश्चात्य देशों में संपन्नता होने पर भी शांति नहीं है। भारतीयों के इस गुण की प्रशंसा में माँ ने कहा था—“हमारे देश के इन सब रोगी लोगों को देखो, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अभावग्रस्त रहने पर भी ये संतुष्ट रहते हैं। अन्न नहीं, वस्त्र नहीं, किंतु उन सबके लिए कोई खेद नहीं। इन लोगों ने भाग्य को सर्वस्व मान लिया है, मानो यही उनकी नियति हो, किंतु ऐसा नहीं। सहनशीलता असाधारण है। इसी में इनकी महानता है। पश्चिमी देशों में इसका बड़ा अभाव है। उनमें संतोष नहीं है, अतः दुख की वेदना अत्यंत तीव्र होती है। वे हमारी तरह सरलता से नहीं मान सकते। इसीलिए उन्हें शांति नहीं मिलती, किंतु इस देश में सर्वथा विपन्न लोगों के आगे एक थाली चावल रख देने से समाधान हो जाता है। समस्त अभाव पल भर में दूर हो जाते हैं।... कैसा महान है यह जीवन! इन साधारण लोगों में कितनी असाधारणता छिपी हुई है?... मुझे स्वयं नहीं लगता कि मैं उन लोगों की तरह सरल और सहज हो पाऊँगी, प्रतिवादहीन, अभियोगहीन और बंधनहीन हो सकूँगी।”

माँ का सब कुछ भारतीय था। वह रहन-सहन, आचार-व्यवहार और

विचारों से भी भारतीय थीं। कदाचित् माँ के पश्चिमी देश में जन्म को प्रकृति की एक भूल कहना उचित होगा। भारत को अपनी कर्मभूमि बनाकर माँ ने प्रकृति की इस भूल को सुधारा था। संभवतः उनके भारत आगमन के पीछे भी कोई दैवी प्रेरणा रही हो।

माँ को भारतीय होने पर गर्व था, इसलिए वह अभिमानपूर्वक कहती थीं, “मैं स्वेच्छा से भारतीय बनी हूँ।”

क्या हुआ, जो माँ का जन्म भारत में न भी हुआ, तो भी वह एक सच्ची भारतीय थीं।

## संघर्ष की शुरुआत

नर्सिंग का प्रशिक्षण प्राप्त कर माँ पुनः कोलकाता लौट आईं। पुराने स्कूल से संबंध विच्छेद हो चुका था। न रहने का कोई स्थान था, न भोजन की व्यवस्था। यदि सब सुख-सुविधा प्राप्त हो तो कार्य करने में विशेषता ही क्या है? विशेषता तो तभी कही जा सकती है, जब पल्ले में कुछ भी न हो, किंतु व्यक्ति महान कार्य को सिद्ध कर दिखाए। आचार्य चाणक्य सर्वथा साधन-विहीन थे, फिर भी उन्होंने अपनी अदम्य संकल्प शक्ति से, अपने अद्भुत राजनीतिक कौशल से, नंद वंश का विनाश कर, मौर्य वंश के शासन की स्थापना का श्रेय प्राप्त किया, हालांकि चाणक्य का यह कार्य व्यक्तिगत अहं से परिपूर्ण कहा जा सकता है, किंतु टेरेसा का कार्य सर्वथा शुद्ध एवं मानवता से परिपूर्ण था।

कोलकाता लौटने पर माँ 'लिटिल सिस्टर्स ऑफ पुअर' संस्था में आईं। उनके मानस में रह-रहकर मोतीझील की बस्ती घूम रही थी। वह इसी बस्ती में अपने कार्य का श्रीगणेश करना चाहती थीं। उन्होंने वहीं एक स्कूल खोलना उचित समझा। 21 दिसंबर, 1948 को उन्हें स्कूल के लिए अनुमति प्राप्त हो गई। अभी तक माँ ने भारतीय नागरिकता ग्रहण नहीं की थी। भारत में रहकर सेवा-कार्य करना ही था, तो भारत की नागरिकता ग्रहण भी उनका नैतिक दायित्व था, यही विचार कर माँ ने 1948 में भारतीय नागरिकता भी ग्रहण कर ली।

विचारों से तो वह पहले ही भारतीय हो चुकी थीं, किंतु वैधानिक बाध्यता

के कारण नागरिकता भी प्राप्त करनी थी। अतः यह औपचारिकता भी पूर्ण कर ली।

अब माँ पूर्णतः भारतीय थीं। भारतीय नागरिक, भारतीय परिधान, यीशु प्रेरित भारतीय विचार तथा दीन-हीनों की भारतीय माँ।

माँ ने 'भारतीयों के दुख को दूर करने का संकल्प लिया। अनाथों के परित्राण का, दुखियों के दुख दूर करने का, परित्यक्तों को शरण देने का, रोगियों के उपचार का, सेवा का संकल्प।



जिस समय माँ ने लोरेटो स्कूल से त्यागपत्र दिया उस समय उनके पास पूँजी के नाम पर मात्र पाँच सौ रुपये थे। यह भौतिक पूँजी भले ही नगण्य हो, उनके पास आत्मबल की जो पूँजी थी, उसके सामने कोई भी सांसारिक साधन नगण्य ही कहा जाएगा। छान्दोग्य उपनिषद् में ऋषि सत्यकाम का उल्लेख आया है। बालक सत्यकाम एक दासी जाबाला का पुत्र था। बालक कुछ बड़ा हुआ। माँ ने उसे अध्ययन के लिए गुरु-आश्रम में भेजा। तत्कालीन गुरु-परंपरा के अनुसार गुरु ने सत्यकाम से पूछा, "तुम्हारे पिता का क्या नाम है?" बालक सत्यकाम इस सबसे सर्वथा अपरिचित था, वह कोई उत्तर न दे सका और घर लौट आया। उसने माँ से पूछा, "माँ, मेरे पिता का क्या नाम है?, मेरा कुल-गोत्र क्या है?"

जाबाला के पास भी इस प्रश्न का कोई उत्तर न था, किंतु पुत्र की जिज्ञासा

को शांत करना भी आवश्यक था। उसने कहा, “पुत्र! मैं एक दासी रही हूँ, मुझे अपने जीवन में अनेक पुरुषों की सेवा करनी पड़ी, अतः मैं तुम्हारे कुल-गोत्र और पिता का नाम बताने में सर्वथा असमर्थ हूँ। तुम गुरु-आश्रम में जाना और गुरु से कहना कि तुम्हारा नाम सत्यकाम है और तुम्हारी माँ जाबाला है, अतः तुम सत्यकाम जाबाला हो।”

बालक सत्यकाम संतुष्ट हो गया। दूसरे दिन वह पुनः गुरु के आश्रम पहुँचा। गुरु ने उससे पुनः उसके कुल-गोत्र का नाम पूछा। बालक सत्यकाम ने निर्भीकता से उत्तर दिया, “मेरी माँ एक दासी थी। उसे अपने जीवन में अनेक अतिथियों की सेवा करनी पड़ी, अतः वह स्वयं मेरे पिता और कुल-गोत्र का नाम बताने में असमर्थ है। मेरा नाम सत्यकाम है तथा मेरी माँ का नाम जाबाला है। अतः मैं सत्यकाम जाबाला हूँ।”

बालक सत्यकाम के इस निर्भीकतापूर्वक दिए गए उत्तर से गुरु अत्यंत प्रभावित हुए और बोले, “इतना स्पष्ट उत्तर कोई ब्राह्मण ही दे सकता है। सत्य को इस प्रकार स्वीकार करने का साहस किसी ब्राह्मण में ही हो सकता है। तुम सच्चे अर्थों में ब्राह्मण हो। मैं तुम्हें अपना शिष्य बनाता हूँ।”

यहाँ हम गुरु के शब्दों पर विचार करें, तो इससे कुछ नए तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। गुरु ने सत्यकाम को ही सच्चा ब्राह्मण बताया है, क्योंकि उसने सत्य को निर्भीकता के साथ स्वीकार किया। गुरु ने यह नहीं कहा, सत्यकाम ब्राह्मण का पुत्र है, अपितु कहा है कि वह सच्चा ब्राह्मण है, अर्थात् ब्राह्मणत्व व्यक्ति की अपनी सत्यनिष्ठा-सत्य-परायणता पर निर्भर करता है, न कि उसके वंश, कुल अथवा गोत्र पर।

किंतु परवर्ती भारतीय समाज के कितने लोगों ने ब्राह्मण की इस पहचान को स्वीकार किया?

आज यदि समाज में कोई ऐसा सत्यकाम, कर्ण अथवा कबीर उत्पन्न हो जाए, तो उसकी जन्मदात्री माँ उसे त्याग देना ही श्रेयस्कर समझेगी। हमारा वेदकालीन गौरवमय समाज अपनी गौरवमयी परंपराओं को अक्षुण्ण न रख सका। पुराणों या महाकाव्यों के काल से ही धार्मिक रूढ़ियाँ अपना प्रभाव दिखाने लगी थीं, इसलिए महाभारत के अप्रतिम महारथी कर्ण को अपमानित होना पड़ा था। उसका दोष केवल यही था कि समाज की दृष्टि में उसके माता-पिता अज्ञात थे। उसका पालन-पोषण एक सूत परिवार में हुआ था। हम

यह तो नहीं कह सकते कि परित्यक्त शिशुओं को नया जीवन देने की प्रेरणा माँ को वेदों से मिली, फिर भी हमारी गौरवमयी परंपराओं तथा वर्तमान रूढ़ियों का तुलनात्मक पक्ष प्रस्तुत करने के लिए हमने वैदिक समाज की उपर्युक्त घटना का उल्लेख किया।

लोरेटो स्कूल से त्यागपत्र देने के बाद माँ ने सियालदह के समीप अत्यंत पुराने भवन में रहने की व्यवस्था की। वहीं से उन्होंने अपने भावी कार्यक्रम की आधारशिला रखी। प्रभु यीशु का संदेश है, “पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।” क्या प्रभु यीशु का यह संदेश मात्र क्राइस्ट मतानुयाइयों के लिए है?

कदापि नहीं। महापुरुषों की शिक्षा अथवा उनका अशेष जीवन-चरित किसी वर्ग अथवा संप्रदाय विशेष की संपत्ति नहीं होता, अपितु वह मानव मात्र की धरोहर होता है। यीशु के उपदेशों के अनुसार आचरण करने के लिए खीष्टीय मत की दीक्षा लेना आवश्यक ही हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनकी शिक्षा सभी के लिए है, उनमें मानव मात्र के कल्याण की भावना निहित है।

सियालदह के अपने निवास स्थान में माँ अनेक परित्यक्त शिशुओं का पालन करने लगीं। ऐसे शिशुओं का, जिन्हें हमारा समाज सर्वथा अवांछित समझता था। जो सर्वथा निर्दोष होते हुए भी एक अभिशप्त जीवन जीने के लिए बाध्य कर दिए जाते हैं। उन्हें जन्म देने वाले तो समाज में शुभ्र वस्त्रों में घूमते हैं, किंतु उन निर्दोषों को समाज दुत्कार देता है। एक कमरे के आवास में माँ अपने बच्चों के साथ रहतीं। पास में साधनों का अभाव था। खाने के लिए सामान्य बंगाली भोजन दाल-भात की व्यवस्था न थी। यदा-कदा रात्रि में भूखा ही रहना पड़ता था। फिर भी माँ तो माँ ही थीं। वह अपनी इन निरीह-निर्दोष संतानों को गले से लगाए रहीं।

भले ही कुपुत्र हो जाए किंतु माता कुमाता नहीं हो सकती। अपने इन दिनों की चर्चा करते हुए माँ ने लिखा है, “हम कभी-कभी पूरे दिन अथवा एक समय निराहार रहकर उपवास रखते हैं, तो हमें कितने कष्ट का अनुभव होता है, फिर जिन्हें कई दिनों तक भूखा रहना पड़ता है या आधा पेट भोजन मिलता है, उनके लिए दो मुट्ठी अन्न देना तो बहुत दूर की बात, जो चीज बिना कुछ व्यय किए दी जा सकती है, अर्थात् वाचिक सहानुभूति, क्या हम इसे देते हैं?”

वस्तुतः सहानुभूति के लिए किसी को कुछ भी व्यय नहीं करना पड़ता। सहानुभूति, स्नेह, प्रेम, अपनत्व का भी मानव जीवन में उतना ही महत्त्व है,

जितना भोजन, वस्त्र आदि का। इन मानवीय गुणों के अभाव में सब-कुछ होने पर भी मानव जीवन नीरस प्रतीत होने लगता है।

जिस व्यक्ति के हृदय में मानवता के लिए प्रेम होगा, सहानुभूति होगी, वही मानवता के लिए समर्पित हो सकता है। यीशु मानवता के कल्याण के लिए ही क्रूस पर लटके।

अब्राहम लिंकन दलित दासों के उत्थान के लिए बलिदान हो गए। मार्टिन लूथर किंग दलित भाइयों के उद्धार के लिए गोली का शिकार बने। भगवान बुद्ध ने मानवता को सत्य का नया मार्ग दिखाने के लिए राजवैभव का परित्याग कर दिया और न जाने कितने ज्ञात-अज्ञात मनीषियों ने परोपकार के लिए अपने प्राण, अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया। माँ टेरेसा भी इसी परंपरा की एक विभूति थीं।

किसी भी महान उद्देश्य के लिए अग्रसर होने पर प्रारंभ में कठिनाइयों का सामना करना ही पड़ता है। माँ भी इसकी अपवाद नहीं रहीं। उनके कार्य के श्रीगणेश का प्रथम वर्ष बड़ी ही कठिनाइयों में व्यतीत हुआ।

दिसंबर 1948 में जब उन्हें पूर्ववर्णित स्कूल खोलने की अनुमति मिल गई, तो माँ ने यह कार्य प्रारंभ कर दिया। प्रायः दो मास बाद उनके रहने की भी व्यवस्था हो गई थी। इस व्यवस्था का श्रेय श्री माइकल गोमेज को मिलता है। कोलकाता के प्राची सिनेमा से आगे मौलाली मोड़ की ओर बढ़ने पर दाहिनी ओर पटरी पड़ती है। वहीं पर एक डेंटल कॉलेज है। इस कॉलेज से मिली हुई एक गली आगे जाकर मलिक स्क्वायर में मिलती है। वहीं पर माइकल गोमेज का पुस्तैनी मकान है, जो अब काफ़ी पुराना हो गया है। सन् 1947 में जब देश का विभाजन हुआ, माइकल गोमेज के दो भाई पूर्वी पाकिस्तान चले गए। उन्हें कोलकाता के आर्क विशप ने ईसाई समाज की सेवा के लिए वहाँ भेजा था।

माइकल गोमेज की पुत्री इटली में माँ की छात्रा रह चुकी थीं, इस प्रकार गोमेज परोक्ष रूप से माँ को अवश्य जानते थे, किंतु अभी तक माँ से उनका साक्षात्कार नहीं हुआ था।

जिस समय माँ नर्सिंग का प्रशिक्षण लेने पटना गई हुई थीं, उन्होंने पादरी हेनरी को लिख भेजा था कि वह शीघ्र ही कोलकाता लौटेंगी, अतः उनके रहने के लिए स्थान की आवश्यकता पड़ेगी।

माँ को आवास की आवश्यकता अवश्य थी, किंतु आवास से उनका तात्पर्य किसी सुख-सुविधा-संपन्न आवास से न था। उन्हें तो सिर छुपाने के लिए जगह भर चाहिए थी, फिर भला वह कोई झोपड़ी ही क्यों न हो।

इसी बीच श्री गोमेज की माँ गंभीर रूप से अस्वस्थ हो गई। उनका अंतिम समय जानकर पादरी हेनरी गोमेज के घर पहुँचे। उन्होंने रोगिणी को बाइबिल के कुछ महत्वपूर्ण अंश सुनाए। इसके बाद उन्होंने गोमेज के सामने मदर टेरेसा की समस्या रखी कि उन्हें रहने के लिए किसी साधारण कमरे की आवश्यकता है। उन्होंने यह भी बताया कि माँ किसी उच्च वर्गीय बस्ती में नहीं रहना चाहतीं, वह गरीबों के लिए कार्य करना चाहती हैं, अतः उन्हें अत्यंत साधारण कमरा चाहिए।

फादर हेनरी के मुँह से यह सुनते ही माइकल की नहीं बिटिया कह उठी, “हमारी ऊपरी मंजिल खाली है, क्या आप एक बार उसे देख लेंगे?”

“हाँ, देखना तो चाहता हूँ।” फादर हेनरी ने कहा।

“चलिए देख लीजिए,” गृहस्वामी ने कहा।

उसके बाद फादर हेनरी ने उनके मकान की ऊपरी मंजिल देखी। माइकल के दोनों भाइयों के पूर्वी पाकिस्तान चले जाने से ऊपरी मंजिल का एक बहुत बड़ा कोना खाली पड़ा था। वहाँ उनका सामान रखा हुआ था। कमरा देख फादर को कुछ निराशा-सी हुई। वे बोले—“अग्नेस को कोई छोटा-सा कमरा चाहिए। यह कमरा तो बड़ा है।”

माइकल गोमेज ने वह कमरा माँ टेरेसा को देना स्वीकार कर लिया। अतः माँ के वहाँ रहने की व्यवस्था निश्चित हो गई। पटना से लौटने के बाद माँ ने श्री माइकल गोमेज के घर को अपना निवास स्थान बनाया। जिस समय माँ ने वहाँ अपना डेरा जमाया, उनके पास संपत्ति के नाम पर लकड़ी का एक संदूक, एक कुर्सी, एक अटैची तथा एक पैकिंग केस ही था। उनका पैकिंग केस ही उनके लिए मेज़ का काम भी करता था।

गोमेज ने जिस उदारता का परिचय दिया, उसकी केवल वाचिक प्रशंसा कर देना पर्याप्त नहीं होगा। माँ से किराया लेना तो दूर अपितु यदा-कदा उनकी अन्य प्रकार से सहायता करने से वे पीछे नहीं रहते थे। ये दिन माँ के परीक्षा-काल कहे जा सकते हैं। एक बार जुलाई का महीना था। रात्रि के दस बजे माँ अपने आवास पर लौटीं, वर्षा के कारण वह पूरी तरह भीग गई थीं।

लौटने के लगभग तीन मिनट बाद उन्होंने माइकल गोमेज के पास एक चिट भेजी, जिसमें लिखा था, 'गोमेज, घर में चावल का एक दाना भी नहीं है, जबकि अभी दो लोगों ने खाना नहीं खाया है। क्या आप कुछ उधार दे देंगे, जिससे मेहमानों को खाना खिलाया जा सके?'

गोमेज ने माँ की समस्या तुरंत हल कर दी। यह घटना भी उन परिस्थितियों का एक संकेत मात्र है, जिसका उन्हें उस समय सामना करना पड़ता था। ऐसा अक्सर होता रहता था। महान संकट में भी धैर्य का परित्याग नहीं करना चाहिए। धैर्य से हर विपत्ति से छुटकारा मिल जाता है। समुद्र में जलयान के टूट जाने पर भी नाविक हतोत्साहित नहीं होते, वह अंतिम क्षण तक तैरते रहने का प्रयत्न करते हैं। यह कथन माँ के जीवन पर भी सत्य चरितार्थ होता है। इन कठिनाइयों से माँ कभी विचलित नहीं हुई। संघर्ष करो, कठिनाइयों से विचलित न हो, माँ ने इसी आदर्श को सदा अपने सामने रखा।

इस छोटे-से मकान से प्रारंभ हुआ माँ का यह शुभ कार्य निरंतर आगे बढ़ता रहा। गोमेज परिवार ने माँ के कार्य में सदा सहयोग दिया। श्री सुदेव राय चौधरी ने एक घटना का उल्लेख किया है, जिसमें माँ के कार्य में गोमेज परिवार द्वारा दिए गए एक अविस्मरणीय अवदान का परिचय मिलता है। माँ का कार्य बढ़ता गया। एक दिन माँ ने गोमेज के पास एक कागज का पुर्जा भेजा, जिसमें लिखा था, 'एक सिस्टर यहाँ पहुँच रही हैं, वह चेचक से पीड़ित रही हैं। क्या उनके लिए एक पृथक् कमरे की व्यवस्था हो सकती है?'

भला चेचक जैसे रोग से पीड़ित को अपने घर ठहराने के लिए कौन सहमत होता है? किंतु गोमेज परिवार ने इसके लिए तुरंत व्यवस्था कर दी। इसके बाद बाथरूम की समस्या थी। दो बाथरूम थे, जिनका उपयोग करने वाले तीस व्यक्ति थे। रोगिणी को सुविधा देना बहुत आवश्यक था, अतः अन्य सदस्यों के लिए छत पर एक अस्थाई बाथरूम बना दिया गया।

माँ के व्यक्तित्व का प्रभाव कहीं अथवा गोमेज परिवार की सदाशयता, माँ ने उन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की। इन कठिनाइयों का समग्र वर्णन संभव नहीं है, क्योंकि इनकी समग्र सूची किसी व्यक्ति के पास नहीं है। स्वयं माँ अपने कष्टों का कभी बखान नहीं करना चाहती थीं।

वस्तुतः माँ के लिए सुख-दुख, लाभ-हानि समान थे, दुखों का उनकी दृष्टि में कोई अस्तित्व ही नहीं था। वह दुखों को भी सदा सहज-समान भाव

से लेती थीं।

प्राचीन काल से ही भारतीय संन्यासी भिक्षा माँगकर जीविका का निर्वाह करते आ रहे हैं, अतः माँ को भी कई बार इसी परंपरा का निर्वाह करना पड़ा, द्वार-द्वार जाकर मधुकरी (भिक्षा) माँगनी पड़ती थी। किसी तरह गुजारा हो जाता था। जिस समय मोतीझील में माँ ने विद्यामंदिर का श्रीगणेश किया, उनके पास पैसों का सर्वथा अभाव था। चारों ओर झोपड़ियों से घिरे हुए एक रिक्त स्थान पर विद्यामंदिर की नींव पड़ी। उस समय स्कूल अवश्य अस्तित्व में आ गया था, किंतु स्कूल के लिए न तो कोई भवन था, न मेज़-कुर्सी, न श्यामपट्ट और न ही आवश्यक साज-सामान। पूर्णतः खुले आकाश के नीचे स्कूल अस्तित्व में आया। उस स्थान पर न तो कोई वृक्ष था, न ही कोई पेड़-पौधा। माँ ने एक मज़दूर लगाया, जिसने फावड़े से कूड़ा इत्यादि एक ओर कर दिया। 'करतल भिक्षा तरुतल बासः' की उक्ति को चरितार्थ किया माँ ने। उसी ज़मीन पर एक पतली लकड़ी से बंगला वर्णमाला के अक्षर-बोध से इस स्कूल का अध्यायन कार्य प्रारंभ हुआ। सर्वप्रथम एक प्रार्थना का पाठ हुआ, फिर अंग्रेज़ी कविता पढ़ाई गई।

यह उनके स्वप्रयत्न से प्रारंभ किए विद्या मंदिर का शुभारंभ था और उनके नये अध्यापकीय जीवन का भी। उसी दिन एक सज्जन माँ के पास पहुँचे। उन्होंने माँ के इस विद्या मंदिर के लिए कुछ धनराशि दी। जब उन्हें इसकी रसीद दी गई, तो वे दूसरे दिन आने की कहकर चले गए और फिर कभी नहीं आए।

वस्तुतः उद्देश्य सत् हो और विचार शुद्ध हों तो कुछ काल के लिए कठिनाइयाँ भले ही मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न करें, अंततः साधन जुट ही जाते हैं।

**मौन का फल है प्रार्थना**

**प्रार्थना का फल है विश्वास**

**विश्वास का फल है प्रेम**

**प्रेम का फल है सेवा**

**सेवा का फल है शांति**

— मदर टेरेसा

## सफलता की ओर

माँ तो माँ होती है। प्रेम, वात्सल्य व स्नेह की मूर्ति। और फिर माँ टेरेसा तो विश्व की एक अद्भुत, अनोखी और अलौकिक माँ थीं। उनके वात्सल्य से आज अनेक शिशु, ऐसे शिशु जिनके जन्मदाताओं ने उन्हें अवांछित समझकर उनके जन्म लेते ही त्याग दिया था, जैसे वे सजीव मानव संतान न होकर कोई निष्प्राण, त्याज्य वस्तु हों, सुखी व समृद्ध जीवन बिता रहे हों। भारत में माँ की कर्मभूमि का केंद्र कोलकाता था। भारत की सर्वाधिक जनसंख्या वाला व्यस्ततम नगर, जहाँ एक ओर अभिजात्य वर्ग है, उसकी ऊँची-ऊँची भव्य अट्टालिकाएँ हैं, वहीं दूसरी ओर वे लोग भी, जिनके पास न तो दो वक्त की रोटी और न सिर छुपाने की जगह।

इसी कोलकाता महानगर में 94-ए. लोअर सर्कुलर रोड, कोलकाता-6 पर मिशनरीज ऑफ चैरिटीज का कार्यालय है। यहीं माँ के कार्य-कलापों का मुख्य केंद्र है। इसके पास इंटाली मार्केट की विपरीत दिशा में जोड़ा गिरजाघर के सामने लोअर सर्कुलर रोड (संप्रति आचार्य जगदीश बसु रोड) पर ही 'निर्मल शिशु भवन' है। भवन की दूसरी मंज़िल पर जाने पर सामने दीवार पर टँगे चित्र पर लिखा है :

*"The poors want your love,  
Not service only."*

एक विदेशी पर्यटक ने निर्मल शिशु भवन के बारे में लिखा था, 'वहाँ प्रवेश



करते ही माँ के ममतामय हृदय का परिचय स्वतः ही मिल जाता है। वहाँ प्रवेश करते ही कई छोटे-छोटे शिशु हँसते-मुस्कराते, किलकारियाँ भरते माँ के विशाल हृदय की कहानी अपने-आप कह देते हैं।

वहाँ निःस्वार्थ सेवा की प्रतिमूर्ति कई संन्यासिन बहनें अपने मानव जीवन की सार्थकता को सिद्ध करती हुई दिखाई देंगी। कोई बच्चों को तेल की मालिश कर रही है, कोई खिलौनों से बच्चों का मन बहला रही है। कोई छह मास के शिशु को बोतल से दूध पिला रही है और कोई चार-पाँच वर्ष के शिशु को भात खिला रही है।

चारो ओर छोटी-छोटी चारपाइयाँ लगी हैं। कुछ शिशु लेटे हैं, कुछ बैठे हैं और कुछ साफ-सुथरे फर्श पर लोट रहे हैं। स्वयं माँ किसी शिशु को अपनी गोद में बिठाकर दुलार-पुचकार रही हैं। किसी चंचल बालक के पाँव में पट्टी बँधी है, वह लँगड़ाकर चल रहा है, तो माँ झट कह उठती हैं, “तुम्हारे पैर में पट्टी क्यों बँधी है? ज़रूर कोई शरारत की होगी।” माँ उस बच्चे के पैर को छूकर गले से लगा लेती हैं। इस पर एक अन्य सिस्टर बताती है, “सीढ़ियाँ उतर रहा था, सहसा पैर फिसल गया।”

किसी मूक बालिका का परिचय देते हुए माँ कहतीं, “इसे सड़क से उठाकर लाई हूँ, उस समय यह सद्योजात शिशु थी। अब शिशु भवन की सिस्टर्स ही इसके माता-पिता हैं।”

कोई बालिका माँ की गोद से उतरना ही नहीं चाहती। किसी ने पूरे कपड़े नहीं पहने हैं, तो माँ चुपके से उसके कान में कहेंगी, “बिटिया! तुमने पूरे कपड़े नहीं पहने, यह तो अच्छी बात नहीं है।”

कोई बालक मधुर स्वर में गाना गा रहा है, तो कोई माँ के समक्ष योगासन में बैठा हुआ है।

इन सभी बच्चों का अपना एक अतीत रहा है, एक दर्दनाक अतीत, ज्ञात या अज्ञात अतीत, किंतु माँ की करुणामयी दृष्टि से वे उस दर्द से, उस अभिशाप से मुक्त हो गए हैं, जो उन्हें माँ की ममता से वंचित होने पर भुगतना पड़ता।

अब वे बच्चे अनाथ नहीं हैं, निराश्रय नहीं हैं। उन्हें माँ का सबल आश्रय प्राप्त है। शिशु भवन की बहिर्नें प्रत्येक शिशु में प्रभु यीशु के बालस्वरूप का दर्शन करती हैं। इन अबोध, निष्पाप, निष्कलुश शिशुओं के लिए शिशु भवन की बहनें ही माँ हैं।

आखिर हो भी क्यों नहीं? जन्म देने वाली माताओं ने तो उन्हें जन्म देकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली। क्या जन्म देकर संतान को एक

अभिशाप्त जीवन जीने के लिए छोड़ देने वाली माँ अपनी निश्छल ममता से अभिसिंचित करती हैं ?

इसलिए शिशु भवन के शिशु यहाँ की बहनों को ही अपनी माँ समझते हैं। जिस प्रकार सामान्य घरों में बच्चा अपनी माँ को देखकर ललक उठता है और दौड़कर उसका पल्लू पकड़ लेता है, ऐसे ही दृश्य शिशु भवन में भी देखने को मिलते हैं। बहनों को देखने पर इन बच्चों को वही प्रसन्नता होती है, जो एक बच्चे को अपनी माँ को देखने पर होती है। उन्हें देखते ही बच्चे भागे-भागे उनके पास जाकर उनकी साड़ी का पल्लू थाम लेते हैं। कोई उनकी पीठ पर झूलने लगता है, तो कोई किसी प्रकार कंधे पर चढ़ जाता है।

इन शिशुओं के लिए शिशु भवन ही उनका घर है। वहाँ की बहिनें ही उनकी माँ हैं। एक सहज सामान्य जीवन जी रहे हैं, यहाँ के शिशु। एक नहीं, दो नहीं, दस नहीं, बीस नहीं, अपितु कई सौ बच्चों को माँ (सिस्टर्स) की ममता मिलती है यहाँ। वह ममता, जिसका कोई मूल्य नहीं चुका सकता, अमूल्य ममता, अनुपम और अद्वितीय ममता।

कहाँ से आते हैं, शिशु भवन में ये शिशु ?

इनमें से अधिकांश अस्पतालों से आते हैं। अविवाहित माँ इन्हें अस्पतालों में जन्म देकर छोड़ जाती हैं। अस्पतालों में ही नहीं 'प्राइवेट नर्सिंग होम' में भी कुआँरी माँ छद्म नामों से भर्ती होती हैं तथा शिशुओं को जन्म देने के बाद सदा-सर्वदा के लिए उन्हें भाग्य के भरोसे छोड़कर अदृश्य हो जाती हैं। इन बच्चों को दाइयाँ माँ के निर्मल शिशु भवन में ले आती हैं। कई सद्योजात शिशु कूड़ेदानों में भी पड़े मिलते हैं। यही स्रोत है निर्मल शिशु भवन के शिशुओं के।

पश्चिमी जगत के स्वच्छंद यौनाचार का अभिशाप भारत में भी फैल चुका है। इसी की परिणति बड़ी संख्या में इन अवांछित शिशुओं का जन्म है। आज यद्यपि गर्भ निरोधक उपाय सहज प्राप्त हैं, फिर भी विशाल जनसंख्या वाले इस देश में अवांछित शिशुओं के जन्म पर नियंत्रण पाना एक समस्या बना हुआ है।

माँ एक धर्म-परायण महिला थीं। यद्यपि धर्म की किसी भी संकीर्णता से उनका दूर का भी संबंध नहीं था, तथापि वह ममता की मूर्ति थीं, करुणामयी थीं। वे संतान के गर्भ में आने से पूर्व गर्भ निरोधक उपायों का समर्थन करती थीं, किंतु गर्भ में आई संतान की हत्या, भ्रूणहत्या अथवा गर्भ समापन को वे

पाप मानती थीं। उनका स्पष्ट मत था कि नई पीढ़ी को संयम का आचरण करना चाहिए। क्षणिक वासनाजन्य आवेश से गर्भ में संतान का बीजारोपण हो जाता है, उसे प्रायः नौ मास तक उदर में धारण करने के बाद जन्म देकर त्याग देना माँ की दृष्टि में एक हृदयद्रावी कृत्य है। किसी सुशिक्षिता कुमारी के इस प्रकार के आचरण की बात सुनकर माँ अत्यंत दुखी हो जाती थीं।

संप्रति विवाहित-अविवाहित, कोई भी अनचाहे गर्भ से छुटकारा पा सकती है। यद्यपि ऐसा करना अब कानून की दृष्टि में अवैध नहीं रहा, फिर भी माँ गर्भपात को एक दुखद कार्य समझती थीं।

अपनी वासना शांत करने के लिए एक निर्दोष-निष्पाप प्राण की हत्या करना माँ की दृष्टि में सर्वथा अनैतिक कृत्य था। माँ समाज के इस पापपूर्ण कृत्य का समाधान उन अवांछित शिशुओं को प्राणदान देकर कर रही थीं। वह ऐसे शिशुओं को गोद लेकर अपनी ममता देकर गर्भपात जैसी समस्या का सामना कर रही थीं। इस विषय में माँ का कहना था—

*“I am fighting abortion with adoption.”*

“मैं अनाथ शिशुओं को गोद लेकर गर्भ-समापन की इस समस्या से संघर्ष कर रही हूँ।”

शिशु भवन में लाते समय इस प्रकार के शिशुओं की दशा उस समय बड़ी ही दयनीय तथा करुणाजनक होती है। उन्हें नया जीवन देना कोई सरल कार्य नहीं होता। फिर भी निर्मल शिशु भवन की बहनों की दृष्टि में इन निरीह शिशुओं की प्राण-रक्षा और पालन-पोषण एक पुनीत कर्तव्य है।

ये बहिनें इन शिशुओं का प्राणपण से, पूरी तल्लीनता और तत्परता से पालन-पोषण करती हैं। उन्हें भगवान का रूप समझकर अपने कर्तव्य का निर्वाह करती हैं।

अपने इस कार्य में बहिनों को कोई गर्व, कोई अभिमान नहीं है, न वे इसके बदले में प्रशंसा चाहती हैं, न ही कोई अन्य प्रतिफल। वे माँ की अनुगामिनी हैं, प्रभु यीशु के मार्ग पर चलने वाली हैं। इन सबका एक ही आदर्श वाक्य है, ‘हमें राज्य सुख, वैभव कुछ नहीं चाहिए, हम केवल दुखों को दूर करना चाहती हैं। हमारे लिए प्रत्येक प्राणी ईश्वर का ही रूप है। इनकी सेवा ही हमारा परम धर्म है।’

निर्मल शिशु भवन के सभी शिशु परित्यक्त ही हों, ऐसी बात नहीं है। हाँ अधिकतर शिशु इसी श्रेणी के हैं। अनेक शिशु ऐसे भी हैं, जिन्हें उनके अभिभावक अपनी विवशताओं के कारण स्वयं छोड़ जाते हैं। यहाँ शिशुओं को माँ-बाप के अभाव की अनुभूति कभी नहीं होती।

कई बच्चे ऐसे भी हैं, जिनके माता-पिता के देहावसान के बाद उनके लाचार-असहाय दादा या दादी उन्हें स्वयं माँ (सिस्टर्स) के संरक्षण में छोड़ गए। उन अभिभावकों ने माँ के सामने अपनी समस्या रखी और माँ ने बच्चे को सहर्ष स्वीकार कर लिया। या ऐसे बच्चे भी यहाँ मिल जाएँगे, जिनके माता-पिता परलोक सिधार गए, तो उन्हें किसी निकट संबंधी के आश्रय में रहना पड़ा। उसका वह संबंधी उससे पशुओं की तरह काम कराता था और काम करते-करते बच्चा जब थक जाता, तो मार पड़ती। इस पर खाना भी पेट भर नहीं मिलता। अपने ऐसे क्रूर आश्रयदाता के व्यवहार से क्षुब्ध होकर बच्चा घर से भागकर कोलकाता आ गया। वहाँ वह किसी रेस्टोरेंट में बर्तन साफ़ करने लगा। वहाँ भी उसके साथ ऐसा ही व्यवहार हुआ, तो वह वहाँ से भी भाग खड़ा हुआ। इसके बाद वह अपराधी प्रवृत्ति के बच्चों के संपर्क में आया और भीख माँगकर अथवा छोटी-मोटी चोरियाँ करके जीवन-यापन करने लगा। ऐसी दशा में कभी उसे माँ ने देख लिया। दयामयी माँ उसे निर्मल शिशु भवन ले आई।

यहाँ उसका नया जीवन प्रारंभ हुआ। वह पढ़ाई करने लगा। बाद में ऐसे बच्चे या तो पादरी बन जाते हैं अथवा कोई नौकरी करने लगते हैं।

बड़ा होकर यदि ऐसा कोई युवक अपनी गृहस्थी बसाने का इच्छुक होता था, तो माँ उसके विवाह का भी पूर्ण उत्तरदायित्व स्वीकार करती थीं। विवाह के बाद उसे नई गृहस्थी के लिए सभी आवश्यक सामग्रियों का, यहाँ तक कि घर-भूमि तक का प्रबंध भी कर दिया जाता है।

ऐसे शिशुओं में बालक ही नहीं, किशोरियाँ अथवा बालिकाएँ भी हैं। उदाहरणार्थ किशोरावस्था में पहुँचते ही किसी बालिका की माँ का देहांत हो गया और पिता ने दूसरा विवाह कर लिया। सौतेली माँ का व्यवहार बिल्कुल क्रूरतापूर्ण था। वह सौतेली बेटी को मारती-पीटती और गाली-गलौज करती।

इससे उसे भयंकर प्रताड़नाओं का सामना करना पड़ता। पिता भी नई पत्नी के मोहजाल में आकंठ डूब चुका था। पत्नी ने उसे इस सौतेली बेटी से

छुटकारा दिलाने को कहा। पत्नी-भक्त पति पिता का कर्तव्य भूल गया। वह कहीं चलने का बहाना बनाकर बेटी को कोलकाता लाया और उसे रेलवे स्टेशन पर छोड़कर चला गया। बालिका पिता के लौटने की काफी देर तक प्रतीक्षा करती रही और फिर रोने लगी। उस पर शिशु भवन की किसी बहन की दृष्टि पड़ी, तो वह उसे अपने साथ ले आई।

ऐसी कितनी ही बालिकाएँ निर्मल शिशु भवन में पल-बढ़ रही हैं। युवा हो जाने पर उनका विवाह किसी योग्य युवक से कर दिया जाता है। उनको नई गृहस्थी बसाने के लिए घर-गृहस्थी का सामान और छोटा-सा भूमि का टुकड़ा भी दिया जाता है। निर्मल शिशु भवन की छाया में पली बालिकाएँ अपनी गृहस्थी बसा लेने के बाद भी यहाँ से एक अटूट बंधन में बँधी रहती हैं, शिशु भवन ही उनका पीहर होता है और जीवन में विवाहोपरांत भी कोई कष्ट होने पर यहाँ से उन्हें यथासंभव सहायता प्रदान की जाती है।

यदि दुर्भाग्य से ऐसी कन्या के पति की मृत्यु हो जाए अथवा कोई असाध्य रोग हो जाए, तो उसकी (कन्या) की आजीविका के निर्वाह के लिए भी व्यवस्था की जाती है। वस्तुतः माँ का हृदय दया, ममता, करुणा आदि मानवोचित गुणों का अथाह सागर था।

प्रतिदिन प्रतिवर्ष कई निःसंतान दंपति शिशु भवन आते हैं। ऐसे दंपतियों में केवल बंगाल अथवा भारत के लोग ही नहीं होते, अपितु विश्व के अनेक देशों के लोग होते हैं।

कोई संतान को अवांछित समझकर त्याग देता है, तो कोई संतान की कामना के चलते हर संभव उपाय करने पर भी निराश हो जाता है। विचित्र विडंबना है। ये संतानहीन दंपति इन बच्चों को लेकर अपने सूनू घरों में उनकी किलकारियाँ सुनना चाहते हैं। यहाँ आकार इन निरीह-निष्पाप अबोध बच्चों के बीच बैठकर, उनकी बातें सुनते हैं, इनके बीच में बैठकर उनकी तोतली भाषा में निश्छल शब्दों को सुनकर उन्हें असीम आनंद की प्राप्ति होती है। ऐसा आनंद जो भौतिक साधनों से सर्वथा अप्राप्य है।

ये दंपति इन बच्चों को सहर्ष गोद ले लेते हैं। भवन के प्रयत्नों से, ममता से उन्हें पुनः माँ-बाप प्राप्त हो जाते हैं, एक सुखद सुनहरा भविष्य मिल जाता है। आज ऐसे कितने ही शिशु देश-विदेशों में सुखद जीवन जी रहे हैं, जिन्हें उनके जन्मदाताओं ने त्याग दिया था, जैसे वे निष्प्राण हों। आज वही अनेक

अच्छे-अच्छे पदों पर कार्य कर रहे हैं।

पारस के स्पर्श से लोहा भी सोना हो जाता है। यदि इन अनाथों को माँ जैसी नाथ न मिली होती, तो इनकी क्या नियती होती, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। गोद देते समय भी माँ अपनी संतानों के भविष्य का पूरा ध्यान रखती थीं।

विदेशों के कई संतानहीन उदारमना दंपति बच्चे गोद लेते हैं, किंतु गोद लेने की प्रक्रिया इतनी सरल नहीं कि किसी के माँगते ही बच्चे उन्हें दे दिए जाते। यदि कोई दंपति बच्चा गोद लेने की इच्छा प्रकट करता, तो माँ पहले उसके विषय में पूरी जानकारी प्राप्त करती थीं। जब वह पूरी तरह संतुष्ट हो जाती थीं कि गोद लेने वाला बच्चे का पूर्ण सत्य-परायणता से पालन-पोषण करेगा, तभी माँ अपनी संतानों को गोद देती थीं।

बालिकाओं को गोद देते समय माँ गोद लेने वालों के विषय में विशेष सतर्कता से काम लेती थीं, क्योंकि आज की बालिका कल एक युवती बनेगी। कहीं तब उसका दैहिक शोषण न हो, माँ इन सभी बातों पर विचार करती थीं और पूर्णतः आश्वस्त होने पर ही अपनी कन्याओं को नए माता-पिताओं को सौंपती थीं। माँ नहीं चाहती थीं कि शिशु भवन से जाने के बाद उनकी संतानों का कोई अहित हो।

वह माँ थीं, अतः संतान के कल्याण की कामना उनका नैसर्गिक गुण था। उनकी सदा यही कामना रहती थी कि उनकी संतान जहाँ रहे, उसका जीवन मंगलमय हो, उसका जीवन-पथ शुभ हो। शिशु भवन में किशोरावस्था पार कर युवावस्था में पदार्पण करने वाली संतानों की किसी दूसरे स्थान पर व्यवस्था कर दी जाती है। उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें अध्ययन के लिए विदेशों में भी भेज दिया जाता है, प्रतिवर्ष कुछ युवक-युवतियाँ विदेश भेजे जाते हैं।

माँ के इस पावन आश्रम निर्मल शिशु भवन में अब तक हज़ारों की संख्या में शिशु नया जीवन प्राप्त कर चुके हैं। इनमें से अधिकांश ने यहीं होश सँभाला, यहीं घुटनों के बल चलना सीखा, यहीं लड़खड़ाते हुए खड़े हुए, यहीं पहले-पहले कुछ अस्पष्ट शब्दों का उच्चारण सीखा, यहीं उन्होंने वर्णमाला का ज्ञान प्राप्त किया, यहीं उनकी शैशव और किशोरावस्था व्यतीत हुई तथा यहीं उन्होंने यौवन में पग रखा।

युवा होने पर इन संतानों का विवाह भी हो जाता है। विवाह में इनके माता-पिता की भूमिका का निर्वाह माँ ही करती थीं। माँ को असीम संतोष प्राप्त होता था जब कोई उदारचेता भद्र पुरुष माँ की कन्याओं को स्वतः अपनी पुत्रवधू बनाकर ले जाता था। कभी-कभी कुछ उदार विचारों वाले युवक भी माँ की इन पुत्रियों को अपनी जीवनसंगिनी बनाकर ले जाते रहे हैं।

अपनी इन संतानों को नवीन जीवन में पदार्पण करते देख माँ को जिस आत्म-संतोष की प्राप्ति होती होगी, उसकी कल्पना कोई माँ ही कर सकती है। पति-गृह जाने के बाद भी माँ की ये पुत्रियाँ सबसे मिलने अपने इस पीहर में आती रहती हैं।

कर्ण का पालन-पोषण सूत और उसकी पत्नी ने किया, अतः वे ही उसके माता-पिता कहे गए। जन्म देने मात्र के कुंती को उसकी माँ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसने अपने इस पुत्र को गंगा में विसर्जित कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली थी।

नीमा और नीरू जुलाहा दंपति को कबीर लहरतारा तालाब के निकट पड़े मिले थे। उनकी जन्मदात्री ने उन्हें जन्म देकर अवांछित समझकर त्याग दिया था। नीरू-नीमा ने ही कबीर का पालन-पोषण किया, अतः वे ही कबीर के माता-पिता कहे गए।

मेनका मुनि विश्वामित्र से उत्पन्न अपनी संतान शकुंतला को वन में छोड़कर चली गई थी। शकुंतला का पालन-पोषण ऋषि कण्व ने किया। अतः कण्व ही उसके माता-पिता हुए।

अपनी माँओं द्वारा परित्यक्त ये संतानें आगे चलकर इतिहास पुरुष बने। कर्ण महाभारत का अप्रतिम महारथी बना, जिसका वध करने के लिए पांडव पक्ष को कई प्रकार के छल-छद्म और प्रवंचनाओं का सहारा लेना पड़ा। महात्मा कबीर भारतीय समाज की एक निरुपम विभूति बने। उन्होंने संकीर्ण मान्यताओं और आडंबरोँ में जकड़े भारतीय समाज को एक नया मार्ग दिखाया। शकुंतला भारतवर्ष के सम्राट दुष्यंत की महारानी बनीं, उन्हें भरत जैसे महायशस्वी पुत्र को जन्म देने का गौरव प्राप्त हुआ, जिसके नाम पर देश का नाम भारतवर्ष पड़ा और जीवक तक्षशिला का सर्वमान्य चिकित्सक जीवक, जिसे भगवान गौतम बुद्ध के संपर्क में आने का गौरव प्राप्त हुआ, जिसने बुद्ध के अंतिम समय में उनकी चिकित्सा की। एक बार जीवक ने अभय कुमार से पूछा भी

कि उसके माता-पिता कौन हैं? इस पर अभय कुमार ने कहा था, “मैंने तुम्हारा पालन-पोषण किया है, अतः मैं ही तुम्हारा पिता हूँ।” “तो मेरी माँ कौन है?” जीवक ने पुनः प्रश्न किया। “इस विषय में मैं कुछ नहीं जानता तब कैसे कहूँ कि तुम्हारी माँ कौन हैं।” अभय कुमार ने उत्तर दिया।

इन समस्त दृष्टांतों का उल्लेख करने का आशय यही है कि जन्म देने वाले माता-पिता की तुलना में पालन-पोषण करने वाले का महत्त्व अधिक है। पालन-पोषण करने वाले ही सच्चे अर्थों में माता-पिता होते हैं। इसके साथ ही इन उदाहरणों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी के भी भविष्य के विषय में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती।

जिस समय सूत को नदी में बहता हुआ सद्योजात बालक मिला, क्या उस समय वह कल्पना कर सकता था कि यह बालक एक दिन महारथी कर्ण बनेगा? जिसकी अप्रतिम वीरता से उसके गुरु परशुराम भी प्रभावित होंगे और पांडव उसकी वीरता के समक्ष बौने सिद्ध हो जाएँगे।

जिस समय नीरू-नीमा को लहरतारा सरोवर के समीप एक अबोध बालक, जो उसी समय पैदा हुआ था, पड़ा मिला, क्या वे कल्पना कर सकते थे कि यह बालक एक दिन महान समाज-सुधारक कबीर बनेगा?

ठिठुरती रात्रि में राजपथ पर पड़े शिशु को देखकर क्या अभय कुमार ने यह कल्पना की होगी कि यह शिशु एक दिन तक्षशिला का चिकित्सक जीवक बनेगा? कदापि नहीं। भविष्य किसने देखा है? कोई नहीं कह सकता है कि माँ की इन अज्ञात माता-पिता की संतानों में कोई भावी कर्ण, जीवक, कबीर, अथवा शकुंतला ही हो। माँ टेरेसा के लिए यह प्रश्न निरर्थक था। वह माँ थीं और माँ का कार्य संतान के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना होता है, जो वह कर रही थीं, पूर्ण मनोयोग और सर्वथा निरपेक्ष भाव से। माँ की तरह उनकी सहयोगी ‘सिस्टर्स’ की दृष्टि में भी प्रत्येक बच्चा समान है, वह प्रत्येक में अपने आराध्य को ही देखती हैं। उनके लिए प्रत्येक शिशु यीशु का ही बाल-रूप है। इस विषय में माँ का स्पष्ट कथन है कि मैं प्रत्येक मनुष्य में यीशु के दर्शन करती हूँ, क्षुधा से व्याकुल व्यक्ति को भोजन कराते वक्त मुझे यही लगता है कि मैं यीशु को खिला रही हूँ। सेवा करते समय भी मेरी दृष्टि के आगे यही दृश्य रहता है। किसी के हाथ-पैर या शरीर के किसी अंग के घाव को साफ़ करते समय ऐसा लगता है, जैसे मैं यीशु की पवित्र देह धो रही

हूँ। इन कार्यों में जिस आनंद की अनुभूति होती है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसे केवल अनुभव किया जा सकता है।

निर्मल शिशु भवन के अनेकानेक बच्चे आज अपने पालक माता-पिताओं के संरक्षण में पल रहे हैं और उन्नति कर रहे हैं। निश्चय ही यह सब माँ के ही निरूपम व्यक्तित्व का प्रभाव ही कहा जाएगा। सद्योजात शिशुओं की देखभाल कोई सरल कार्य नहीं है, फिर भी शिशु भवन की बहनें अपनी ममता का अमृत पिलाकर उन्हें नया जीवन देती हैं। इन शिशुओं में से अधिकतर तो अपनी जन्म देने वाली माँ के विषय में कुछ भी नहीं जानते क्योंकि उन्होंने उसे देखा ही नहीं। उन्होंने तो होश ही शिशु भवन में सँभाला। किंतु कभी-कभी कोई कुंती संयोगवश इन कर्णों के पास स्वतः ही पहुँच जाती है।

कर्ण ने पांडवों में श्रेष्ठ वीर अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा की। स्वार्थवश कुंती कर्ण के पास गई और उसने स्वीकार किया कि वह उसकी माँ है। कुंती की यह स्वीकारोक्ति स्वार्थ-प्रेरित थी, क्योंकि वह अर्जुन के लिए अभयदान प्राप्त करना चाहती थी, किंतु इसके उलट निर्मल शिशु भवन में कुछ कुंतियाँ पुनः अपने परित्यक्त बच्चों को प्राप्त करने आती हैं। कदाचित् ऐसी माँएँ अपने कृत्य के पश्चाताप में अंदर-ही-अंदर जलती रहती हैं। जब उन्हें संतान का वियोग असह्य हो जाता है, तो उनके लिए स्वयं को रोक पाना असंभव हो जाता है। ऐसी मानसिक स्थिति में वे लोक-समाज की परवाह किए बिना शिशु भवन पहुँचती हैं और अपने बच्चों के विषय में स्पष्ट शब्दों में सब-कुछ बताकर उन्हें ले आती हैं। कई बार विवाहोपरांत अविवाहित जीवन में उत्पन्न अवांछित परित्यक्त संतान को प्राप्त करने के लिए वे अनेक प्रयास करती हैं। उसे वापस पाने के लिए उन्हें कभी-कभी बहुत भटकना पड़ता है।

भले ही परिस्थिति-वश अविवाहित माताएँ अपनी संतानों का परित्याग कर दें, किंतु विवाह के बाद भी वे अपनी उस संतान को नहीं भूल पातीं। इस विषय में मदर टेरेसा का कहना था कि अविवाहित जीवन में परित्यक्त संतान की स्मृति माँ के अंतस से कभी दूर नहीं होती। वह माँ होती है, केवल माँ, माँ के सिवाय और कुछ भी नहीं। उसका कोई विकल्प नहीं होता।

माँ सच्चे अर्थों में जीवन-मुक्त संन्यासियों की श्रेणी में आती थीं। उनमें मान-अपमान, ऊँच-नीच का कोई भाव नहीं है, वह इन सबसे मुक्त थीं। एक बार वह एक सिस्टर के साथ कहीं जा रही थीं। वे दोनों अभिजात्य वर्ग के घरों

के सामने से गुज़रीं, तो माँ ने सिस्टर से कहा कि तुम्हें इन घरों में जाकर शिशु भवन के बच्चों के लिए खाना माँगना होगा।

ऐसी बात इतनी सहजता से कोई महामनीषी ही कह सकता है, जिसके लिए अपने-पराए अथवा मान-अपमान की भावना का कोई अर्थ नहीं रह जाता। माँ के मुख से यह सुनकर क्षण भर के लिए सिस्टर के मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। उसे ऐसा करने की कल्पना मात्र से संकोच अथवा लज्जा का अनुभव होने लगा। न चाहते हुए भी उसने सिर हिलाकर सहमति दे दी। इस पर माँ ने पुनः कहा, “सिस्टर यह कार्य तुम्हें ही करना है, क्योंकि इसे तुम ही अच्छी तरह कर सकती हो।”



यह सुनते ही सिस्टर के लज्जा, संकोच आदि भाव पल भर में काफूर हो गए। इन शब्दों से उसकी समस्त दुविधा दूर हो गई। वह सहर्ष मधुकरी के लिए निकल पड़ी। इसके बाद यह नित्य का काम बन गया। सिस्टर को इस प्रकार भिक्षा माँगने में अनेक प्रकार के अनुभवों का सामना करना पड़ता था। कई लोग रुष्ट हो उठते, कुछ बड़बड़ाने लगते और कभी यह देखकर एक सुखद आश्चर्य भी होता कि घर के वयोवृद्ध सज्जन स्वयं दान देने के लिए लाठी के सहारे नीचे आते और अपनी शालीनता का प्रशंसनीय परिचय देते।

यह देने वाले पर निर्भर करता है कि वह किस भावना से दे रहा है। माँ की शिष्याएँ केवल व्यक्ति की श्रद्धा एवं आस्था को ही नहीं देखती हैं, उन्हें किसी के क्रोध, रोष, अपमान व तिरस्कार से कोई दुख नहीं होता।

‘सार-सार को गह रखै, थोथा देय उड़ाय।’

यही तो संन्यासी जीवन का आदर्श है। सच्चा संन्यासी न तो अभिष्ट की प्राप्ति से प्रसन्न होता है, न अनिष्ट से दुखी। वह राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त होता है। माँ और उनकी सहयोगी बहनें संन्यासियों की इस कसौटी पर पूर्णतः खरी सिद्ध होती हैं।

आज माँ की ममता पाकर कई युवक-युवतियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर विभिन्न प्रकार से जीवन के नए आयाम छू रहे हैं, तो कई दिन में नौकरी करते हैं और रात्रि में अध्ययन करते हैं। प्रत्येक माँ के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हैं। उन्हें माँ के उपकार को स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं है।

यहाँ कई युवक इस तथ्य को स्वीकार करते हुए मिल जाएँगे कि यदि उन्हें माँ की ममता न मिली होती, तो न जाने वे कहाँ, किस प्रकार का जीवन-यापन कर रहे होते, कदाचित् अपराधी या भिखारी भी बन गए होते। माँ के पावन स्पर्श से, उनकी ममता से, उनकी करुणा से आज अनेक परित्यक्त बच्चे एक सहज जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। योग्य छात्रों को माँ विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजती थीं। भला सगे माँ-बाप भी इससे अधिक क्या कर सकते हैं ?

माँ अपनी इन संतानों की वास्तविक माँ थीं। क्या अंतर पड़ता है, यदि उन्होंने उन्हें जन्म न भी दिया हो। वस्तुतः अपना और परायापन भावना से होता है, न कि जन्म से।

माँ सभी अनाथों, निराश्रितों, दुखियों और रोगियों को अपना समझती थीं, इसलिए वह सबकी माँ थीं। निश्चय ही निर्मल शिशु भवन माँ की विराट ममता का एक मूर्त रूप है, जहाँ अनेक आश्रयहीन परित्यक्त शिशुओं को नए जीवन का दान मिला है।

कैसे करती थीं माँ, इतने शिशुओं, इतनी संतानों का पालन-पोषण, जहाँ लोग घरों में दो-तीन बच्चों का पालन-पोषण करने में ही इतने व्यस्त हो जाते हैं। माँ के पास यूँ तो आय का कोई निश्चित स्रोत था नहीं, तो फिर अपने इतने शिशुओं की व्यवस्था कैसे करती थीं माँ ?

माँ की लगन, उनका ईश्वर में विश्वास, यही था उनका धन। निःस्वार्थ सेवा-भावना ही उनकी आय का स्रोत था। यह समस्त व्यवस्था दान से मिले धन तथा अन्य वस्तुओं से ही होती थी।

तो क्या दान इतना मिल जाता है कि सरलता से व्यवस्था हो जाती है? क्या दान नियमित रूप से मिलता रहता है?

नहीं, ऐसी बात नहीं है। न तो पर्याप्त धन मिलता है और जो कुछ भी मिलता है, वह भी सदा मिलता रहे, ऐसी बात भी नहीं है। पर्याप्त-अपर्याप्त की बात तो तब उठती है, जब किसी सुख-सुविधा से संपन्न जीवन की आकांक्षा हो। निर्मल शिशु भवन का उद्देश्य परित्यक्त शिशुओं को प्राणदान देना है, उन्हें स्वावलंबी बनाना है। ऐसे में सुख-सुविधा-संपन्न जीवन देने की बात करना ही अर्थहीन लगता है, फिर भी जिनका कोई न हो, उन्हें जीवनदान देना, चाहे वह साधारण स्तर का ही जीवन क्यों न हो, यही क्या कम है!

दान भी नियमित रूप से नहीं मिलता। कभी-कभी तो ऐसी स्थिति भी आ जाती है कि एक पैसा भी नहीं होता और शिशु भवन के बच्चों को देने के लिए कुछ भी नहीं रहता। एक बार तो ऐसा लगने लगता है, आज सभी को उपवास करना पड़ेगा, किंतु तभी कोई व्यक्ति स्वयं आकर दान दे जाता है। ऐसा एक-दो बार नहीं, अनेक बार हुआ है। ऐसा कैसे हो जाता है, यह पूछे जाने पर माँ का उत्तर होता था—“सब उनकी (भगवान) इच्छा है।” मन-प्राण सब ईश्वर को अर्पित कर दो, फिर देखो, कोई समस्या नहीं लगेगी। दुख, वेदना आदि आएँगे, चिंता न करो, आने दो। याद रखो दुख ही आनंद लाता है और वेदना सफलता लाती है और जीवन को मधुर बना देती है। जिसका जीवनपात्र वेदना से भरा हो, वही तो वेदना से त्रस्त मनुष्य का दुख दूर कर सकता है।” वस्तुतः मानव के दुखों के लिए अपने जीवन को समर्पित कर देने वाला मनुष्य ही देवता है, ऐसा व्यक्ति वंदनीय, श्रद्धेय और पूज्य है। देवता शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए हमारे निरुक्तकारों ने कहा है कि जो दान देता है, मार्गदर्शन करता है अथवा प्रकाश देता है, वही देवता है। अतः मानवता के लिए अपने जीवन का बलिदान देने वाले, उसे एक नई दिशा दिखाने वाले देव पुरुष ही हैं। निरंतर बढ़ती जनसंख्या और मानव जीवन के भौतिकता प्रधान होने के कारण आज विश्व में भूखे लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है। आप इस विषय में क्या कर सकती हैं? क्या

इस समस्या का निराकरण संभव है ? इन प्रश्नों के उत्तर में माँ कहती थीं—

“हमारा कार्य समुद्र में जल की बूँद डालने के समान हो सकता है, किंतु उस समुद्र में वह एक बूँद जल भी न पड़ता, तो समुद्र उस एक बूँद से वंचित रह जाता। यही ही?... सभी भूखों के मुँह में अन्न नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार सभी रोग-पीड़ितों की सेवा भी संभव नहीं है। तो इसका यह अर्थ है कि सेवा, दान प्रेम के छींके पर टाँगकर रख दिया जाए। मार्ग में चलते हुए यदि कोई भूख से व्याकुल व्यक्ति सामने आ खड़ा हो, तो उसे देखना ही धर्म है। उनकी भूख मिटाने के लिए आगे बढ़ना मनुष्य का मानवतापूर्ण कर्तव्य है। संख्या चाहे हजार, लाख, करोड़ कितनी ही क्यों न हो, यदि हर मनुष्य प्रतिदिन एक अच्छा कार्य करे, तो कदाचित् कोई समस्या ही न रहे।”

माँ के इन शब्दों से किसी को मतभेद नहीं हो सकता। इन पर मतभेद केवल दुराग्रह ही कहा जाएगा।

## निर्मल हृदय

मृत्यु प्रकृति का एक अवश्यंभावी नियम है। प्रत्येक प्राणी को इसका सामना करना पड़ता है। इससे कोई भी बच नहीं सकता।

अपने स्वतंत्र कार्य-क्षेत्र में अवतरण के आरंभ से ही माँ मुमूर्षु (मृतप्राय) को देख व्याकुल हो जातीं। किसी भी ऐसे व्यक्ति के मिलने पर माँ बिना किसी प्रकार का विचार किए उसकी सेवा में तल्लीन हो जातीं। चाहे वह व्यक्ति सड़क पर हो, फुटपाथ पर अथवा किसी अन्य स्थान पर। उस समय माँ के पास ऐसे लोगों का उपचार करने के लिए स्थान का अभाव था।

उस समय माँ को मुमूर्षुओं की सेवा के लिए प्रायः माइकल गोमेज से परामर्श करना पड़ता कि इस कार्य के लिए कोई व्यक्ति सहायता करेगा कि नहीं। कुछ दिनों बाद ही आउटडोर डिस्पेंसरी के लिए कोलकाता के फादर ने थोड़ी-सी जगह उन्हें प्रदान की थी। इसके बाद रोगियों के कई दल वहीं आने आरंभ हो गए।

प्रथम विद्या मंदिर खुलने पर माँ को मेज-कुर्सी जैसी आवश्यक वस्तुएँ एक व्यक्ति ने दी थीं। इस डिस्पेंसरी के लिए दवाइयाँ भी किसी अन्य व्यक्ति ने दीं। माँ का रोगियों की सेवा का यह कार्य भी समानांतर रूप में चलने लगा। एक बार माँ बरसात में कहीं जा रही थीं, रास्ते में उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति अंतिम घड़ियाँ गिन रहा है। कोलकाता जैसी महानगरी में यह कोई विशेष घटना नहीं थी, फिर भी न जाने क्यों, माँ कुछ सोचने के लिए बाध्य हो गईं।

वह सोचने लगीं कि इस प्रकार के निराश्रय मुमूर्षुओं के लिए भी कुछ व्यवस्था होनी चाहिए।

माँ इसकी व्यवस्था करने में जुट गई। दो महीने बाद इसके लिए स्थान भी मिल गया। यह स्थान था, कालीघाट स्थिर मंदिर के पीछे का मकान, जहाँ पहले तीर्थयात्री ठहरते थे। कोलकाता आए इन तीर्थयात्रियों को स्थानीय धर्मप्रेमी, व्यापारी निःशुल्क आवास सुविधा के साथ ही भोजन, वस्त्र आदि भी देते थे। प्रारंभ में यह स्थान भले ही धार्मिक उद्देश्य के लिए रहा हो, किंतु बाद में वहाँ जुआ खेला जाने लगा। माँ इस स्थान का उपयोग मुमूर्षुओं के लिए करना चाहती थीं। उन्होंने इस स्थान को प्राप्त किया। इसे प्राप्त करने में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उनकी एक अलग कहानी है।

कालीघाट का यह प्राचीन काली मंदिर हिंदुओं की धार्मिक भावना का केंद्र है। यहाँ नित्य अनेक धर्मप्रेमी हिंदू माता काली के दर्शनार्थ, उपासनार्थ आते हैं। इन्हीं भक्तों के रुकने के लिए मंदिर की भित्ति से लगी है, यह धर्मशाला, जिसमें जुआरियों का अड्डा बन गया था। माँ ने इसके सदुपयोग के लिए संघर्ष किया। अंततः सन् 1952 में कोलकाता नगर पालिका ने इसे माँ को दे दिया।

यहाँ माँ के मुमूर्षु आश्रम का पट्ट लगते ही स्थानीय पंडित-पुजारियों के कान खड़े हो गए। प्रतिक्रिया स्वरूप इसने एक आंदोलनकारी रूप ले लिया। हिंदू मंदिर के साथ ईसाइयों की संस्था। कट्टरपंथी संकीर्ण हिंदुओं के लिए यह असह्य था। वे इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। मंदिर के चार सौ पुजारियों ने इस भावना का लाभ उठाना चाहा। प्रबल विरोध होने लगा। लोग यह भी कहने लगे कि ऐसा तो अंग्रेजों के शासन-काल में भी नहीं हुआ। स्वतंत्र भारत में यह भी होने लगा। इसे हम नहीं सह सकते।

जितने लोग, उतनी बातें। विरोध और विरोध। निरंतर उग्र रूप धारण करता विरोध। अंततः माँ को स्वयं विरोधकर्ताओं के पास जाना पड़ा।

निर्भय-निश्चिंत, धीर-गंभीर और शांत भाव से माँ उन पुजारियों के सामने गईं। विरोधी अपने स्वर में चिल्लाए जा रहे थे। माँ ने उन्हें शांत किया और बोलीं, “आप चाहें तो मुझे मार डालें, इसमें मैं कोई हानि नहीं समझती, किंतु इस धर्मशाला में जिन दुखियों को शरण मिली है, कृपया उन्हें दुख न पहुँचाएँ। यह शरणार्थी जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिन रहे हैं, इस दुनिया को

छोड़ते समय उन्हें शांति से रहने दीजिए।

माँ के शब्दों के जादू का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनकी अहिंसामयी वाणी रूपी जल से हिंसा का लावा तुरंत शांत हो गया। सभी विरोधी मंदिर के पुजारी माँ का मुँह देखने लगे, मानो उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व ने उन्हें अभिभूत कर दिया हो।

संयोग कि इन्हीं विरोध करने वाले पुजारियों में से एक कुछ समय बाद तपेदिक का रोगी बन गया। उसके घरवालों ने उसका उपचार किया, किंतु कोई सफलता नहीं मिली। उसका अंत निकट दिखाई देने लगा। रोग असाध्य हो गया तथा माँ को इसका पता चला तो उनकी ममता जाग उठी। अब इस रोगी को घर से भी उपेक्षा मिलने लगी थी। माँ उसके पास गई और उसे 'निर्मल हृदय' में ले आईं।

मृत्यु अनिवार्य है, फिर भी अपना कर्तव्य माँ ने पूरा किया। जो कार्य उसके परिजनों ने नहीं किया, उसे माँ ने किया। स्वजनों से उसे उपेक्षा मिली, माँ ने उसे अपनत्व और ममता दी। यद्यपि उसे बचाया नहीं जा सकता था, तथापि अंतिम समय में उसे जो सेवा, सुश्रुषा, ममता, स्नेह मिला उससे उसे एक शांतिपूर्ण मृत्यु प्राप्त हुई। जीवन के अंतिम समय में व्यक्ति को इसकी आवश्यकता होती है। माँ के इस अलौकिक व्यवहार से, इस मानवोचित उदारता से, इस सहानुभूति से कालीघाट मंदिर के सभी पुजारी उनके समक्ष श्रद्धा से नत हो गए। उन्हें अपने पूर्व व्यवहार पर पश्चाताप होने लगा। उन्हें माँ के रूप में जगजननी की मूर्ति के दर्शन होने लगे। एक पुजारी अपने इन मनोभावों को रोक नहीं सका। उसने माँ को प्रणाम किया और बोल उठा,



“माँ, विगत बीस वर्षों से माँ की पूजा करता आ रहा हूँ। आज मुझे आप में अपनी माँ के दर्शन हुए हैं। माँ मैं स्वयं को धन्य समझ रहा हूँ। मेरा जीवन सफल हो गया।”

चाहे संकीर्णताओं में पड़कर कोई व्यक्ति किसी महान आत्मा का विरोध करे, किन्तु जब वह आत्मा की महानता से परिचित होता है, तो उसे सत्य को स्वीकार करना ही पड़ता है। यही इस घटना से सिद्ध भी होता है।

आज उसी कालीघाट के काली मंदिर से लगा ‘निर्मल हृदय’ कितने ही मरणासन्न लोगों की शरणस्थली बना हुआ है। पीले रंग के इस भवन में प्रवेश करने पर सामने दिखाई देता है ‘निर्मल हृदय’ का श्यामपट्ट, जिस पर लिखा है—

*“Corporation of Kolkata  
Nirmal Hriday  
Home for dying distitutes”*

कोलकाता निगम ‘निर्मल हृदय’ निराश्रयों का आश्रय स्थल है।

नीचे की पंक्तियाँ बंगला भाषा में लिखी हुई हैं। इसी श्यामपट्ट के कारण काली मंदिर के पुजारियों ने विरोध किया था। यह ‘निर्मल हृदय मुमूर्षु आश्रम’ केवल सैद्धांतिक और दिखाने भर के लिए नहीं है। यह वास्तविक अर्थों में निराश्रय, मरणासन्न व्यक्तियों का सेवा केंद्र है। इसकी व्यवस्था का उत्तरदायित्व एक सिस्टर पर है।

यद्यपि निर्मल हृदय के पास केवल दो कमरे हैं, एक पुरुषों के लिए और दूसरा महिलाओं के लिए। दोनों कमरों में अधिक-से-अधिक तीन सौ व्यक्ति आ सकते हैं। फिर भी कोई भी मुमूर्षु यहाँ पहुँच जाने पर लौटाया नहीं जाता। ‘निर्मल हृदय’ में स्थान की कमी बाधक नहीं बनता, यहाँ पहुँचे मुमूर्षु का पूर्ण उत्तरदायित्व ‘निर्मल हृदय’ का हो जाता है। लगभग तीन सौ चारपाइयों के होने पर भी कभी किसी मुमूर्षु को ‘निर्मल हृदय’ से निराश नहीं होना पड़ा। कोलकाता जैसी महानगरी में प्रतिदिन अनेक मुमूर्षु यहाँ पहुँचते हैं। उनकी व्यवस्था कैसे हो जाती है? इस प्रश्न का यही उत्तर मिलता है, “शैय्याएँ चाहे कितनी ही कम क्यों न हों, फिर भी हम किसी मुमूर्षु को नहीं लौटाते। लौटाएँ भी क्यों? यह घर तो है ही उन्हीं का, लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैसे भी बन पड़े, कुछ-न-कुछ व्यवस्था हो ही जाती है।”



कोलकाता महानगरी में जन-जन की श्रद्धास्पद थीं माँ टेरेसा। किसी से भी पूछिए कि वहाँ सर्वाधिक जनप्रिय व्यक्तित्व कौन था, तो एक ही उत्तर मिलेगा, “माँ टेरेसा”।

आखिर इसके पीछे कारण क्या था? माँ तो प्रचार, प्रशंसा आदि से सर्वथा दूर रहती थीं। वे आत्माराम थीं, आत्मा में विचरण करने वाली। वह जो भी

कुछ करती थीं अपना कर्तव्य समझकर करती थीं, 'स्वान्तः सुखाय' न कि प्रदर्शन अथवा प्रशंसा के लिए। इसलिए वह व्याख्यान, भाषण, प्रेस, पत्रकार आदि से दूर ही रहती थीं। उनका प्रत्येक कार्य ईश्वर को समर्पित था। दुखियों की सेवा ही उनका धर्म था। अपने इसी धर्म के निर्वाह में उन्हें ईश्वर के दर्शन होते थे। उनकी इसी भावना का मूर्त रूप है निर्मल हृदय। जिसके विषय में पूछे जाने पर कोलकाता का कोई भी निवासी नहीं कहेगा कि वह इसके विषय में कुछ नहीं जानता।

निर्मल हृदय से माँ को भी विशेष प्रेम था। माँ जब कोलकाता में होती थीं, प्रत्येक रविवार की प्रातः 'निर्मल हृदय' में अवश्य जाती थीं। विदेशों में रहने पर भी वे निर्मल हृदय को नहीं भूलती थीं।

मरणासन्न व्यक्ति की सेवा माँ की दृष्टि में यीशु की सेवा थी, उस पवित्र निर्मल आत्मा की सेवा, जो मानवता के लिए बलिदान हो गया। इसलिए माँ को 'निर्मल' शब्द से विशेष लगाव था, 'निर्मल शिशु भवन' और 'निर्मल हृदय' माँ के इसी लगाव के सूचक हैं।

वास्तव में माँ का हृदय 'परदुख कातर' था, निष्कलुष था, स्वच्छ और निर्मल था। उनके द्वारा स्थापित ये सभी संस्थाएँ उनके हृदय की इसी निर्मलता को इंगित करती हैं।

दो विशाल कक्ष, एक पुरुषों का, दूसरा महिलाओं का, इनके बीच में एक सफ़ेद पर्दा, दाहिनी ओर रसोई घर और एक कोने में, कुछ ऊँची जगह, जो कार्यालय का काम देती है। कार्यालय की सामग्री है, एक जोड़ा कुर्सी, मेज़ तथा दो पंजिकाएँ।

कमरों में एक से दूसरे सिरे तक लोहे की चारपाईयाँ लगी हैं, जिन्हें मोड़कर इधर-इधर ले जाया तथा खड़ा किया जा सकता है। स्वच्छता का पूरा प्रबंध रहता है। केवल स्थान की कमी को छोड़कर, यहाँ का सभी प्रबंध किसी भी चिकित्सालय से उत्तम रहता है। प्रत्येक चारपाई के पास आने-जाने के लिए एक सँकरी-सी जगह है।

प्रायः दो सौ रोगी यहाँ नित्य देखे जा सकते हैं। कार्यालय की एक पंजिका में भर्ती होने वाले रोगी का नाम व पता लिखा जाता है तथा दूसरी में मृतकों की मृत्यु तिथि का उल्लेख रहता है। प्रायः ऐसे ही मरणासन्न रोगी यहाँ आते हैं, जो कुछ ही समय बाद दुनिया से विदा हो जाते हैं। फिर भी 'निर्मल हृदय'

की बहनें अपने कर्तव्य-पालन में पूरी सावधानी रखती हैं। यदि सौभाग्य से किसी के प्राणों की रक्षा हो जाती है, तो वह व्यक्ति फिर यहाँ का होकर रह जाता है। 'निर्मल हृदय' का स्नेह पाकर वह फिर वापस जाना ही नहीं चाहता। भला जाए भी कहाँ, इसी विषय में माँ का कहना था, "वे जाएँ भी तो कहाँ जाएँ? उनके लिए कहीं अन्यत्र आश्रम भी तो नहीं है।"

प्रत्येक रविवार की प्रातः चर्च में प्रार्थना के बाद माँ निर्मल हृदय पहुँच जाती थीं। वहाँ पहुँचकर वे प्रत्येक शैय्या के पास जाकर रोगी का हाल-चाल मालूम करती थीं। नित्य प्रति वहाँ अनेक करुणाजनक दृश्य दिखाई देते हैं जैसे, शैय्याएँ कम होने पर कोई रोगी फर्श पर लेटा हुआ काँप रहा है। वह व्यक्ति किसी संपन्न घर का लगता है। उससे पूछा जाता, "अस्पताल क्यों नहीं गए?" "वहाँ देखने वाला कोई नहीं है, इसलिए यहीं रहना चाहता हूँ। मुझे यहीं रहना अच्छा लगता है।" उत्तर मिलता है।

इस पर माँ उसे सांत्वना देती हैं, धैर्य बँधाती हैं—"अच्छा-अच्छा कोई बात नहीं। घबराओ नहीं।"

इसके बाद माँ दूसरी शैय्या के पास पहुँचती। उस पर कोई रोगी लेटा है, जिसका मुँह कंबल से ढका है। माँ उसके मुँह का कंबल हटाती हैं। माँ प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरने लगीं। रोगी बेखबर पड़ा है। सहसा माँ कह उठतीं—"लगता है यह बेचारा अब अधिक नहीं जीएगा।"

उसी समय रोगी का प्राणांत हो जाता है। माँ उसके शरीर को ढक देती हैं।

आगे एक अन्य शैय्या है। उसमें कोई वृद्ध लेटा हुआ, 'गों-गों' कर रहा है। उसे साँस लेने में कठिनाई हो रही है। माँ पलटकर दूसरे रोगी को देखतीं कि तभी इस शैय्या का रोगी शब्दहीन हो जाता है। माँ उसके माथे पर हाथ रखतीं, नाड़ी देखतीं और कह उठतीं, "चल बसा।" माँ के कहने पर सिस्टर उस रोगी को सफ़ेद चादर से ढक देतीं।

आगे एक शैय्या पर एक व्यक्ति लेटा हुआ है। किसी ट्रक से कुचला पड़ा। घर में उसके पत्नी-बच्चे सभी हैं। उन्होंने सरकारी अस्पताल पहुँचा दिया। वहाँ कोई लाभ न हुआ और घरवालों ने भी मुँह मोड़ लिया। अस्पताल वाले सड़क पर छोड़कर चले गए। किसी प्रकार वह 'निर्मल हृदय' आ गया। यहाँ उसका पाँव काटना पड़ा।

एक शैय्या पर एक युवक बैठा है। उसके माँ-बाप तभी इन दुनिया से

चल बसे, जब वह बच्चा ही था। वह गाँव छोड़कर कोलकाता चला आया।

यहाँ आकर मेहनत-मजदूरी करता हुआ वह पेट भर रहा था कि तपेदिक ने जकड़ लिया। उसे भी 'निर्मल हृदय' में नया जीवन मिला।

महिलाओं के कक्ष में शैय्या पर एक युवती पड़ी हुई है, जो मरणासन्न अवस्था में है। सिस्टर उसका उपचार कर रही हैं।

एक अन्य बालिका एक बिस्तर पर बैठी है। वह गाँव की रहने वाली है। वहाँ उसे तपेदिक हो गया था, वह शहर चली आई, किंतु शहर में कोई आश्रय नहीं था। विवश होकर सड़कों पर रात्रि व्यतीत करनी पड़ती। उसके सौभाग्य से 'निर्मल हृदय' की बहनों की दृष्टि उस पर पड़ गई और उसे ले आई। अब वह स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त कर रही है।

बहुधा सिस्टर ऐसे रोगियों को भी 'निर्मल हृदय' में ले आती हैं, जिन्हें अन्य चिकित्सालय अपने यहाँ भर्ती करना अस्वीकार कर देते हैं।

पहली बार माँ को सड़क पर ऐसी मरणासन्न महिला मिली, जिसका शरीर चींटियों और चूहों ने कुतर डाला था। माँ उस महिला को अस्पताल ले गई, क्योंकि उस समय 'निर्मल हृदय' अस्तित्व में नहीं आया था। अस्पताल के डॉक्टरों ने उस महिला को भर्ती करना अस्वीकार कर दिया। माँ को सेवा का संकल्प लेने वाले डॉक्टरों से इस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा न थी। ऐसे चिकित्सकों की हठधर्मिता के विषय में माँ ने कहा था—“डॉक्टर, नर्स, समाज-कल्याण के कर्मचारी, यह सत्य है कि सब बुरे नहीं होते, किंतु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि डॉक्टरों का व्यवहार कभी-कभी आशा के अनुकूल नहीं होता।”

डॉक्टरों के मना करने पर भी माँ वहाँ से न हटीं। माँ के सत्याग्रह के समक्ष डॉक्टरों को पराजय माननी पड़ी तथा वह महिला भर्ती कर ली गई। इस घटना ने माँ के हृदय को उद्वेलित करके रख दिया। कदाचित् इस घटना से माँ को जो दुख हुआ, उसी का परिणत स्वरूप 'निर्मल हृदय' अस्तित्व में आया।

परदुःखाकार माँ भला किसी को दुखी कैसे देख सकती थीं। माँ किसी के दुख को नहीं सह सकती थीं। प्रत्येक दुखी उनके लिए यीशु का रूप था। समाज के उपेक्षितों से माँ को गहरी सहानुभूति थी। माँ का सदा प्रयत्न रहता था कि उपेक्षितों को भी यह अनुभूति हो कि उन्हें भी कोई प्यार करता है।

'निर्मल हृदय' के प्रत्येक रोगी का अपना एक मर्मस्पर्शी अतीत है। उनके

दुखों की अलग कहानियाँ रही हैं। प्रत्येक दिन अनेक रोगी आते हैं, कई मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। मरते समय उन्हें कम-से-कम संतोष तो रहता ही होगा कि वे मनुष्यों के बीच में मर रहे हैं। मरने के बाद उनके मृत शरीरों की दुर्गति नहीं होगी, जो मनुष्य की एक स्वाभाविक दुर्बलता है। भले ही वह जानता है कि मरने के बाद यह



शरीर मिट्टी है, फिर भी यह कोई नहीं चाहता कि उसके मृत शरीर की दुर्गति हो।

‘निर्मल हृदय’ में प्रातः नित्य ही मुमूर्षु परलोक सिधारते रहते हैं, अतः वहाँ मृत्यु की भयावहता एक सामान्य बात बन गई है। फिर भी वहाँ जाकर इन दृश्यों को देखने वाले व्यक्ति को अपना हृदय कठोर करना पड़ता है। कभी-कभी वहाँ किसी मृत्यु को देखकर व्यक्ति क्षुब्ध हो उठता है। यह घटना धीर-गंभीर माँ के हृदय को झकझोर देती होगी। एक बार मरणासन्न अवस्था में एंबुलेंस द्वारा सियालदह से एक युवती ‘निर्मल हृदय’ में लाई गई। उस समय रात्रि के लगभग दस बजे थे। ‘निर्मल हृदय’ के सभी प्राणी भोजन कर चुके थे। वह युवती अपनी जिदंगी के अंतिम क्षण गिन रही थी। उसे साँस लेने में भी भयंकर कष्ट हो रहा था, फिर भी वह बीच-बीच में “भात दो-भात दो” चिल्ला पड़ती थी।

उसकी यह करुणाजनक दशा देख माँ ने उसके लिए दाल-भात तैयार कराया। एक थाली में भोजन परोसकर उसके सामने रख दिया गया। कई दिनों की भूखी वह मरणासन्न युवती अपने सामने दाल-भात देखते ही उठकर बैठ गई, जैसे वह अपना समस्त कष्ट भूल गई हो। उसने एक क्षण उस थाली को देखा और दूसरे ही क्षण गिर पड़ी। उसने अंतिम साँस ली तथा दुनिया से विदा हो गई।

मरते समय उसे निश्चय ही इससे बड़ा संतोष हुआ होगा कि कम-से-कम अभी तक दुनिया में कुछ तो ऐसे मानव हैं, जो उसके समक्ष भात की थाली रख सकते हैं।

मौत के मुँह से कोई किसी को नहीं बचा सकता। किंतु प्रेम, दया और सहानुभूति का कोई मूल्य नहीं है। माँ को इसी से अपरिमित संतोष मिलता था कि वह दुखियों की सेवा कर रही हैं। कम-से-कम कष्ट से व्याकुल मनुष्य को अंतिम समय में तो यह संतोष हो कि उससे भी सहानुभूति रखने वाले लोग हैं। परलोक के विषय में विभिन्न धर्मों की मान्यताएँ भले ही अलग-अलग हैं, कदाचित् यह कोई नहीं चाहेगा कि जीवन के अंतिम क्षणों में उसे संतोष, शांति न मिले।

कभी एक कहानी पढ़ी थी। एक व्यक्ति से राजा ने कहा, “तुम कल प्रातः सूर्योदय से सूर्यास्त तक दौड़ते रहो। इस दौड़ में तुम जितनी जगह घूम लोगे, उतनी समस्त भूमि तुम्हें दे दी जाएगी।” लालच से अंधा बना वह व्यक्ति दूसरे दिन सूर्योदय होते ही दौड़ने लगा, सारे दिन वह दौड़ता रहा। उसे न अपने शरीर की सुधि थी न दुनिया की। ज्यों-ज्यों दिन ढलता, वह थकता जाता, किंतु लोभ उसे दौड़ने के लिए प्रेरित करता। सूर्यास्त का समय समीप आने पर वह और अधिक दौड़ने लगा। जिस समय सूर्यास्त हुआ, वह थककर चूर हो गया। उसने यह जानने के लिए कि उसने कितनी भूमि पर अधिकार कर लिया है, ज्यों ही मुड़कर पीछे देखा, त्यों ही उसकी मृत्यु हो गई। अंत में उसे उसी पृथ्वी की गोद में दबा दिया गया, जिसके लिए मात्र दो गज भूमि की आवश्यकता पड़ी।

इस कथा का उल्लेख करने के पीछे उद्देश्य यह है कि मृत्यु दो प्रकार की होती है, पहली, संतोष की साँस लेकर मरना और दूसरी अशांत मृत्यु। ‘निर्मल हृदय’ में उपर्युक्त युवती को मृत्यु के समय यह तो संतोष हुआ होगा

कि मरते वक्त उसके समक्ष भोजन आ गया था। इस दूसरी कहानी में लोभ के वशीभूत व्यक्ति मृत्यु को प्राप्त हो गया, किंतु मरते वक्त भी वह संतुष्ट नहीं था। वह यही चाहता था कि यदि सूर्यास्त कुछ और देरी से होता, तो कुछ और भूमि पर उसका अधिकार हो जाता।

मुमूर्षु आश्रम अर्थात् 'निर्मल हृदय' के अस्तित्व में आने पर पहले सिस्टर्स रोगियों को सड़कों से उठाकर ले आती थीं। कुछ समय बाद 'निर्मल हृदय' मरणासन्न रोगियों के लिए स्वर्ग बन गया, और इतना प्रसिद्ध हो गया कि लोग इस प्रकार के रोगियों को देखते ही यहाँ पहुँचा देते या मार्ग में कोई व्यक्ति पड़ा देखते, तो एंबुलेंस के लिए फोन कर देते। इसके बाद एंबुलेंस उसे 'निर्मल हृदय' ले आती।

'निर्मल हृदय' में आने पर प्रत्येक व्यक्ति को यह अनुभूति कराई जाती है कि उसके साथ प्यार करने वाले लोग इस धरती पर विद्यमान हैं। इस विषय में माँ के शब्द उल्लेखनीय हैं, "सबसे पहले हम उन्हें यह बताना चाहते हैं कि उन्हें प्यार करने वाले लोग इस दुनिया में हैं। मृत्यु तो अवश्यंभावी है। मृत्यु के समक्ष जाने से पूर्व थोड़े स्नेह का स्पर्श मिल सके, यही उन्हें यहाँ लाने की सार्थकता है।"

'निर्मल हृदय' में आने वाले मुमूर्षुओं में से प्रायः 95 प्रतिशत दुनिया से चल बसते हैं। शेष पाँच प्रतिशत जीवित रहने वाले यहाँ से लौटकर जाना नहीं चाहते। इनमें काम करने में सक्षम व्यक्तियों के लिए काम ढूँढ़ा जाता है। ऐसे ही कई युवक-युवतियाँ आज विभिन्न प्रकार से अपनी जीविका का निर्वाह कर रहे हैं, कुछ 'निर्मल हृदय' में ही रोगियों की सेवा आदि कार्य करते हैं।

जीवित रहने पर भी किसी प्रकार का कार्य करने में अक्षम लोगों को 'होम' में भेज दिया जाता है, जहाँ जीवन-पर्यंत सुखपूर्वक रहते हैं।

'निर्मल हृदय' के मुमूर्षुओं के लिए माँ मानव रूप में साक्षात् देवी थीं। किंतु माँ इस कार्य का कोई श्रेय नहीं लेना चाहती थीं। वह इस कार्य को ईश्वर की सेवा समझती थीं। उनकी यह निःस्वार्थता, निर्लिप्तता, अकिंचनता की भावना ही उनकी महनीयता थी।

'निर्मल हृदय' की बहनें तो रोगियों की सेवा अपना धर्म समझकर करती हैं। साथ ही अनेक विदेशी युवक प्रायः मिल जाएँगे, जो संपन्न घरों के हैं। सात समुद्र पार वे कोलकता आए हैं, यूँ कहा जा सकता है कि माँ युवक

रोगियों की सेवा करती हैं, निःस्वार्थ भाव से, निरपेक्ष होकर।

कोई मालिश कर रहा है, कोई किसी को नहला रहा है, इसमें उन्हें न कोई कष्ट होता है न ही कोई कुंठा। मानवता के महान कार्य में अपना सहयोग देना, पुण्य कार्य में सहयोगी बनना, यही सेवा-भावना का उद्देश्य है।

इस कार्य में असीम आत्म-संतोष प्राप्त होता है। ऐसा संतोष जिसका केवल अनुभव किया जा सकता है, जिसे वर्णित नहीं किया जा सकता। ठीक उसी प्रकार जैसे सूरदास ने कहा है—“ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अंतर्मन ही भावे।”

ये सेवा-परायण युवक न तो स्वेच्छाचारी हैं, न घर से पलायन कर आए हुए हैं। ये सब अच्छे घरों के होते हैं। सभी अपने अभिभावकों की अनुमति लेकर कुछ समय के लिए इस तपोभूमि में, इस साधनास्थली में आते हैं। पाश्चात्य जगत के अत्यंत व्यस्त समाज से ऊबकर कुछ मास इस आश्रम में रहकर उन्हें दिव्य आनंद मिलता है।

अपने व्यय पर, अपना समय लगाकर ये युवक कोलकाता आते हैं, यहाँ दिनभर 'निर्मल हृदय' में मुमुर्षुओं, रोगियों की सेवा करते हैं और रात्रि को होटलों में रहते हैं।

यहीं उन्हें निःस्वार्थ सेवा, अकृत्रिम जीवन, सहज-सरल व्यवहार, दुखियों अनाथों के प्रति अपनत्व की जो शिक्षा मिलती है, उसे पाश्चात्य जगत के लिए बालू से तेल निकालने के समान कहा जाएगा।

## सत्य जीवन धाम कुष्ठ-रोग आश्रम

कुष्ठ रोग, जिसे मानव जीवन का एक भयंकर अभिशाप माना जाता है। इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति को घृणा का पात्र माना जाता है। ईश्वर न करे, जिस किसी को यह रोग हो जाता है, उसका जीवन जीते-जी नरक बन जाता है। गैर तो दूर, उसके अपने भी उससे घृणा करने लगते हैं।

आज कुष्ठ रोग साध्य है। यह कोई संक्रमण रोग नहीं है।

किंतु किसी समय यह रोग अत्यंत असाध्य था, तथा इसे लेकर समाज में एक घृणित भावना व्याप्त थी।

सामान्य रूप से जनमानस में आज भी इस रोग के प्रति घृणा की भावना व्याप्त है। यही कारण है कि समाज, घर, परिवार द्वारा तिरस्कृत कुष्ठ रोगी भीख माँगने के लिए विवश हो जाते हैं। यदि वे भीख न माँगें तो क्या करें? उनके अपने परिवारवाले भी उन्हें ठुकरा देते हैं।

एक सज्जन हैं, जो उत्तर प्रदेश पुलिस विभाग में सर्विस करते हैं। दुर्भाग्य से उनकी माँ को कोढ़ हो गया। पुत्र ने माँ का उपचार कराना छोड़, उसे आत्महत्या के लिए बाध्य करने की सोची। माँ को वह गाँव से हरिद्वार ले गए, गंगा स्नान कराने के बहाने। अभी रोग का प्रकोप अधिक नहीं हुआ था। वह

वहाँ माँ को एकांत स्थान पर ले जाकर बोले, “माँ! अब तुम्हारा जीवन व्यर्थ है। मेरी भी बदनामी होगी। मेरे बच्चों को भी तुम्हारा रोग लग सकता है। तीर्थ में आई हो, इससे अच्छा अवसर फिर नहीं मिलेगा। गंगा मैया की पवित्र धारा में जल-समाधि ले लो, सीधे स्वर्ग पाओगी।”

उनकी माँ अनपढ़ भले ही थीं, किंतु अपना जीवन किसे प्यारा नहीं होता? वृद्ध माँ के मन पर क्या बीती होगी, ये तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। फिर भी उसने ऐसा करना स्वीकार कर लिया।

यह घटना सत्य है। इसे घटे भी अधिक समय नहीं हुआ है। इस घटना से हम सहज ही कुष्ठ रोगियों की पीड़ा का अनुमान लगा सकते हैं। इस भयंकर सामाजिक समस्या पर माँ टेरेसा ने गंभीरता से विचार किया। उनके एक घनिष्ठ सहयोगी ने उनसे कहा था कि भले ही यह संक्रामक रोग नहीं है, फिर भी लोगों में इस रोग से ग्रसित रोगियों के प्रति सहानुभूति की भावना नहीं है।

माँ का हृदय कुष्ठ रोगियों की इस पीड़ा को नहीं देख सका। वह उनके पुनर्वास तथा उपचार के लिए प्रयत्नशील हो गईं। उनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप पश्चिम बंगाल की सरकार ने उन्हें 35 एकड़ भूमि प्रदान की। आज आसनसोल के समीप इसी भूमि पर कुष्ठ रोगियों का पुनर्वास केंद्र कुष्ठ-रोग आश्रम ‘शांति नगर’ बसा हुआ है।

सन् 1957 में सर्वप्रथम माँ के पास पाँच कुष्ठ रोगी आए थे, जिन्हें अभी इस रोग का अधिक प्रकोप हुआ भी नहीं था। किंतु रोग के लक्षण प्रकट होते ही उन्हें नौकरियों से निकाल दिया गया था। नौकरियों से ही नहीं, अपितु घरवालों ने भी उनका बहिष्कार कर दिया था। चारों ओर से निराशा ही हाथ लगने के कारण वे भीख माँगने के लिए बाध्य हो गए थे।

संयोग से इसी समय कुष्ठ रोग विशेषज्ञ डॉ० सेन भी माँ के पास आए। माँ ने उनसे इस रोग के विषय में विस्तार से चर्चा की। डॉ० सेन ने माँ की कुछ सिस्टर्स को इस रोग के उपचार का प्रशिक्षण दिया।

तब से माँ ने कुष्ठ रोगियों की सेवा का कार्य भी आरंभ कर दिया। इस कार्य के लिए अमेरिका आदि देशों से भी दवाएँ प्राप्त होती हैं। बहनों की निष्काम, निःस्वार्थ भावना तथा उपचार से कुष्ठ रोगी स्वास्थ्य-लाभ प्राप्त करते हैं। माँ ने उस समय यह सिद्ध किया कि कुष्ठ रोग पूर्णरूपेण साध्य है,

किंतु इसमें उचित उपचार की आवश्यकता होती है।

कुष्ठ रोगियों के भली-भाँति स्वस्थ हो जाने पर भी विडंबना यह है कि उनके परिवारवाले तथा समाज उन्हें अपनाने के लिए तैयार नहीं होते, अतः ऐसे स्वस्थ व्यक्तियों के लिए 'शांति नगर' स्वर्ग समान है। ये व्यक्ति फिर 'शांति नगर' के ही निवासी हो जाते हैं और वे भविष्य में किसी के मुहताज नहीं रहते।

माँ ने सर्वप्रथम रोगियों के पुनर्वास के लिए एक प्रेस की व्यवस्था की। यद्यपि माँ स्वयं यह कार्य नहीं जानती थीं, फिर भी उनकी यह तपस्या व्यर्थ नहीं गई। कई कुष्ठ रोगी ही अब उस प्रेस को चला रहे हैं।

'शांति नगर' पहुँचने वाले रोगियों में केवल निर्धन और विपन्न ही नहीं, अपितु अनेक संपन्न और उच्च शिक्षित रोगी भी होते हैं। इन लोगों को यह रोग हो जाने पर उनके परिजन उन्हें घर छोड़कर चले जाने के लिए बाध्य कर देते हैं।

माँ इन रोगियों की चिकित्सा के लिए विदेशों से भी औषधियाँ प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्न करती रहती थीं। यही नहीं माँ के हृदय में कुष्ठ रोगियों के लिए कितनी सहानुभूति थी, इसका अनुमान एक घटना से सरलता से लगाया जा सकता है। सन् 1964 ई० में पोप षष्ठ पॉल का भारत आगमन हुआ। वे माँ के कार्यों से परिचित तो पहले से ही थे, यहाँ आकर उन्हें माँ के कार्यों को प्रत्यक्ष देखने का अवसर प्राप्त हुआ। जब वे भारत से वापस लौटे, तो अपनी 'लिंकन' गाड़ी उपहार के रूप में माँ को दे गए। माँ भला उस गाड़ी का क्या करतीं? वह उसमें एक दिन भी नहीं बैठीं। वह उस गाड़ी का उपयोग कुष्ठ रोगियों के लिए करना चाहती थीं। उन्होंने उस गाड़ी को लाटरी पुरस्कार के रूप में रख दिया। इस लाटरी से कई लाख रुपये के टिकट बिके। इन टिकटों से प्राप्त हुए सभी रुपये माँ ने कुष्ठ रोग आश्रम की स्थापना के लिए दान कर दिए।

सन् 1971 में माँ को 'पॉप जॉन शांति पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। इस पुरस्कार से प्राप्त 21 हजार पाँच सौ डालर की धनराशि भी माँ ने कुष्ठ आश्रम को दे दी।

आज माँ द्वारा संचालित लगभग 55 केंद्रों में लगभग 50,000 कुष्ठ रोगियों के उपचार की व्यवस्था है। माँ की इसी साधना के परिणामस्वरूप

आज अनेक कुष्ठ रोगी इस रोग के अभिशाप से पूरी तरह मुक्त होकर सामान्य जीवन जी रहे हैं। इस विषय में श्री स्वदेव राय चौधरी ने अपनी पुस्तक 'माँ टेरेसा' में एक घटना का उल्लेख किया है—

“करुणामयी माँ और उनकी हजार से अधिक बहनें मिलकर इस सेवा के संसार को प्यार के लेप से नित्य नवीन करती रहती हैं। गांधी जी के जन्मदिवस 2 अक्टूबर को टीटागढ़ के कुष्ठ रोग आश्रम में प्रायः उसी समय इस रोग से मुक्त युवती की बातें दीर्घकाल तक याद रहेंगी। 'गांधी प्रेम निवास' नामक कुष्ठ रोग आश्रम की स्थापना के बाद राज्यपाल डायस चले गए थे। शनैः-शनैः आयोजन प्राँगण खाली हुआ। सहसा अधेड़ अवस्था का एक व्यक्ति माँ के पास आया। माँ को देखते ही अधमैला कुर्ता पहने हुआ वह व्यक्ति बोला, 'माँ! मेरी बेटी स्वस्थ हो गई है, उसका विवाह भी निश्चित हो गया है। दिन और मुहूर्त भी तय हो गया है। वर पक्ष सोने के बटन, अँगूठी व घड़ी माँग रहे हैं। मैं कपड़े, गहने कहाँ से लाऊँ माँ! आपके रहते...।

माँ का विशाल हृदय पिघल गया। वे बोलीं, “होगा, होगा। जब उसका कुष्ठ रोग दूर हो गया, तो विवाह भी होगा।”

जैसी बात वैसा ही काम। गाड़ी पर बैठते ही एक सिस्टर को पुकारा। शुद्ध बंगला में बोलीं, “अरे! मेरे पास एक अँगूठी है ना? वह रहे या न रहे, इस लड़की का कुछ ठिकाना तो करना ही होगा।”

पास ही तेरह-चौदह वर्ष की एक लड़की खड़ी थी। उसे माँ ने पास बुलाने के लिए हाथ हिलाया। उसके पास आते ही माँ बोलीं, “तुम्हारा हाथ कैसा है? तेल मालिश तो करती हो न? आउटडोर में नियम से तो आ रही हो? लकड़ी कुछ देर तक मुग्ध दृष्टि से माँ के मुँह की ओर देखती रही और फिर बोली, “हाँ माँ! दाग लगभग मिट चुका है।”

कुष्ठ रोगियों को भीख माँगते देख माँ को अपार वेदना होती थी। माँ कहीं जा रही हों और कुष्ठ रोगी भीख माँगते मिल जाएँ, तो माँ सीधे उनके बीच पहुँच जातीं, उनसे बातें करतीं, उनके शरीर को छूतीं। इससे उन रोगियों के मन को जो आनंद मिलता होगा, उसकी अनुभूति सहज नहीं है।

यही नहीं, माँ प्रत्येक बस्ती में जाकर रोगियों की खोज-खबर लेती थीं। उनके घावों को धोना, उनके शरीर पर हाथ फेरना माँ के लिए एक सामान्य बात थी। इससे उन्हें अपार आनंद प्राप्त होता था। क्या कोई साधारण मनुष्य

ऐसा कार्य कर सकता है? घृणा पर विजय पाना हर किसी के वश की बात नहीं।

घृणा पर विजय—राग—द्वेष से दूर—निर्लिप्त—निष्काम। ऐसा जीवन भला श्रद्धा का पात्र कैसे नहीं होगा?

हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गांधी भी कुष्ठ रोगियों के शरीर में स्वयं तेल-मालिश करते थे। प्रसिद्ध योगी स्वामी मुक्तानंद भी कुष्ठरोगियों की सेवा में आनंद को देखते थे। एक बार स्वामी जी से कुछ ईसाई पादरियों ने कहा, “क्या आप हमें ईश्वर के दर्शन करा सकते हैं?”

“हाँ!” स्वामी जी ने कहा, “कल प्रातः आना।”

अगले दिन प्रातः दोनों पादरी स्वामी जी के आश्रम में पहुँचे, किंतु स्वामी जी उनके आते ही वहाँ से चल पड़े और बोले कुछ भी नहीं। दोनों पादरी उनके पीछे हो लिये। चलते—चलते स्वामी जी एक झोपड़ी में पहुँचे। वहाँ एक कुष्ठ रोगी लेटा हुआ था। स्वामी जी तेल से उसके शरीर में मालिश करने लगे। कुछ देर बाद जब वह मालिश कर चुके, तो उन्होंने पादरियों से पूछा, “क्या तुम्हें ईश्वर के दर्शन हो गए?” दोनों पादरी स्वामी जी के चरणों में गिर पड़े। उनके मुँह से केवल इतना ही निकल सका, “आज हमें साक्षात् यीशु के दर्शन हो गए।”

स्वामी विवेकानंद की शिष्या भगिनी निवेदिता भी इससे पूर्व दरिद्र नारायण की सेवा का आदर्श उपस्थित कर चुकी हैं। सन् 1899 में जब कोलकाता में प्लेग फैला, तो स्वामी जी ने रोग के संक्रमण को रोकने का भार अपनी इसी शिष्या को सौंपा। बहन निवेदिता तेज धूप में हाथ में झाड़ू लेकर सड़क की सफ़ाई करने के लिए तत्पर हो गई थीं, तब युवकों ने उनके हाथ से झाड़ू ले ली और स्वयं सड़कों पर झाड़ू लगाई।

पीड़ित मानव की सेवा माँ का धर्म था। माँ अपने सहयोगियों को भी सदा यही प्रेरणा देती थीं। उन्होंने अपने एक सहयोगी के पत्र में यही लिखा था— “मैं क्षुधार्थ (भूख से व्याकुल) हूँ—केवल भोजन के लिए नहीं, शांति के लिए भी। किंतु वह शांति आएगी पवित्र हृदय से।”

“मैं पिपासाकुल हूँ—पानी नहीं, जिससे युद्ध की प्यास मिटे, वह शांति, संपूर्ण शांति ही मुझे अभीष्ट है।”

मैं वस्त्रहीन हूँ—वस्त्रों की कमी से नहीं, स्त्री-पुरुषों के अपमान से। मैं



गृहविहीन हूँ—ईंट पत्थर के बने सहारे के अभाव में नहीं, उस हृदय के अभाव में, जो प्यार वितरित कर सके।”

सामर्थ्य के लोभ को त्यागकर सबको प्यार करने से ही ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। घृणा, द्वेष, हिंसा के हाथों से मुक्त होने का एकमात्र अस्त्र प्रेम है। मुस्कराते हुए समस्त कार्य करते रहने में ही जीवन की मधुरता निहित है।”

## आश्रय

असामान्य बुद्धि और विकलांग बालकों की शरणस्थली है, माँ की ममता का एक अन्य मूर्त रूप 'प्रेमदान'। उनका यह 'प्रेमदान' कोलकाता के पूर्वी अंचल तिलजला में स्थित है।

पहले यह भवन आई.सी.आई. (भारत) का था। इसमें तकनीकी सेवा प्रयोगशाला बननी थी। आई.सी.आई. ने 1973 में इसे माँ को समर्पित कर दिया। प्रेम के कारण दिए गए इस भवन का नाम 'प्रेमदान' रखा। जो आज भी अपने नए रूप में अपने नाम की सार्थकता का परिचय दे रहा है।

5 अप्रैल, 1973 को पश्चिम बंगाल के तत्कालीन राज्यपाल ए.एल. डायस ने 'प्रेमदान' का उद्घाटन किया। इस भवन के पास पाँच एकड़ भूमि है। इसी भूमि के बीच 'प्रेमदान' स्थित है। इसमें पर्याप्त स्थान होने के कारण यह कई हज़ार लोगों की सेवा का केंद्र बना हुआ है। इसमें बड़े-बड़े हालनुमा कक्ष, कॉरीडोर एवं कार्यालय हैं। यहीं एक ओर एक प्राथमिक पाठशाला है तथा भवन के लिए भाग में आकर नया जीवन तो प्राप्त करते ही हैं। साथ ही आजीविका निर्वाह के लिए कुछ कार्य भी सीखते हैं।

यहाँ मंदबुद्धि और विकलांग बच्चों के साथ मुमूर्षुओं के रहने की भी व्यवस्था है। अन्य मंदबुद्धि तथा विकलांग बच्चों को यहाँ की बहनें विभिन्न बस्तियों और गाँवों से लाती हैं। यहाँ उनका उपचार होता है, साथ ही उन्हें



कार्य भी सिखाया जाता है। स्वस्थ हो जाने पर बच्चे उनके अभिभावकों को सौंप दिए जाते हैं।

सड़कों पर चलते समय माँ को फुटपाथों पर प्रतिदिन नारियल के अनेक टुकड़े मिलते थे। उन्हें देखकर माँ ने विचार किया कि क्यों न उनका सदुपयोग किया जाए। इन्हें प्राप्त करने में कुछ व्यय भी नहीं करना पड़ेगा।

पानी पीने के बाद डाभों को लोग इधर-उधर फेंक देते हैं, इससे सड़कों पर कूड़ा हो जाता है। क्यों न इससे कुछ बनाया जाए?

यही विचार कर एक दिन माँ ने कुछ डाभ एकत्र किए और उनसे विभिन्न प्रकार की चीजें बनाने लगीं। इससे माँ को एक नई प्रेरणा मिली। 'प्रेमदान' के क्षेत्र में पुनर्वास केंद्र बना हुआ है। बालक-बालिकाएँ नारियल के खोल जमा कर बहनों के पास लाते हैं। फिर इन खोलों से 'प्रेमदान' में दरियाँ, गद्दे, जाजिम आदि बनाए जाते हैं।

दोपहर बाद तक बच्चे इन खोलों को जमा करते हैं, किंतु इन समस्त डाभों को केंद्र में लाना संभव नहीं हो पाता, उसके लिए एक ही लारी है। इन्हें एकत्रित कर सियालदह के रैनबसेरे के पीछे फुटपाथ पर पिरामिड के आकार में जमा किया जाता है। सायंकाल इन्हें जमा करने वाले बच्चों को प्रति सौ डाभ एक पौंड पावरोटी अथवा 16 बिस्कुट, जो वे चाहें, पारिश्रमिक दिया जाता है।

रैनबसेरे के पास से लारी इन्हें केंद्र में लाती है, जहाँ इनका सदुपयोग होता है। इससे 'प्रेमदान' के तीन सौ के लगभग बच्चों की आजीविका चलती है। वस्तुतः माँ का यह कार्य एक प्रशंसनीय कदम ही कहा जाएगा। एक व्यर्थ पड़ी चीज का सदुपयोग कर माँ ने इन विकलांग बच्चों को एक नवीन जीवन सिखाया। एक सौ डाभ से प्रायः रैनबसेरा को एक वक्त का भोजन मिल जाता है। यह कार्य रुपयों-पैसों में आँकने पर भले ही अधिक महत्त्व का न लगे, किंतु इससे विकलांग बच्चों को जो एक नई प्रेरणा मिलती है, उसका कोई मूल्य नहीं।

## रैनबसेरा

माँ की ममता अनेक रूपों में साकार होकर सामने आई है। निर्मल शिशु भवन, प्रेमदान, निर्मल हृदय, शांति नगर आदि उनकी ममता के परिचायक हैं। इन्हीं में एक अन्य नाम सियालदह का 'रैनबसेरा' है। यहाँ बस्ती में रहने वाले तथा फुटपार्थों पर जीवन-निर्वाह करने वाले लोग रात्रि में शरण प्राप्त करते हैं।

इस रैनबसेरे में बच्चों की नन्हीं दुनिया के अनेक दृश्य देखने को मिल जाते हैं। कुछ बच्चे साफ़ फर्श पर बैठे हुए पढ़-लिख रहे हैं, कुछ कैरम इत्यादि खेलने में व्यस्त हैं, कुछ खड़े हैं, तो कुछ बैठे हैं। प्रायः नेकर पहने हुए हैं। बहनें इन्हें रोज़ नहलाती हैं। अतः कोई भी बच्चा गंदा दिखाई नहीं देता। यहाँ कुछ अनाथ बच्चे ऐसे भी हैं, जिनका कोई ठौर-ठिकाना नहीं है। वे दिन भर सियालदह प्लेटफार्म अथवा अन्य फुटपार्थों पर रहते हैं।

रैनबसेरे में इन बच्चों को पढ़ाने के लिए एक पाठशाला भी बनाई गई है। हिंदू, मुसलमान, ईसाई सभी संप्रदायों के बच्चे यहाँ शिक्षा पाते हैं। चौथी कक्षा तक यहाँ पढ़ाने के बाद इन्हें सेंट एन चर्च के पास प्रतिभा सेन स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा जाता है। वहाँ इन्हें आठवीं कक्षा तक शिक्षा दी जाती है।

जब ये बच्चे सर्वप्रथम यहाँ आते हैं, तो उस समय फुटपार्थों से आए हुए इन बच्चों की दशा का सरलता से अनुमान लगाया जा सकता है। इनके सारे शरीर धूल में सने हुए होते हैं। इन बच्चों में प्रायः जेब काटने वाले अपराधी प्रवृत्ति के बच्चे भी होते हैं। बसों, ट्रामों तथा अन्य भीड़-भाड़ वाले स्थानों पर



जेबें काटना ही इनका काम होता है। पकड़े जाने पर इनकी बुरी तरह पिटाई होती है।

‘रैनबसेरा’ की बहनें तथा समाज के अन्य जिम्मेदार व्यक्ति ऐसे बच्चों को यहाँ लाते हैं। यहाँ लाकर इन बच्चों को उनका अपराध बोध कराकर उन्हें भविष्य में कोई अपराध न करने की शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार यह ‘रैनबसेरा’ इनकी शरणस्थली बनता है और फिर इनके जीवन का एक सुनहरा अध्याय शुरू हो जाता है।

## निर्मल केनेडी केंद्र

‘निर्मल केनेडी केंद्र’ माँ टेरेसा की ममता का एक अन्य साकार रूप है। सन् 1971 में जब बंगलादेश से लाखों शरणार्थी भारत आए, तो दमदम हवाई अड्डे से कुछ दूर एक स्थान पर उनके लिए शिविर लगाया गया। उसी समय अमेरिका के सीनेटर एडवर्ड केनेडी भी भारत आए। मि० केनेडी इन शरणार्थी शिविरों को देखने जा रहे थे। स्वाभाविक है कि इस कद के नेता पत्रकारों आदि से घिरे रहते थे, इसलिए वे लोगों को ठीक से नहीं देख पा रहे थे। जब वह कोलकाता में कहीं जा रहे थे, तो भीड़ से पीछे हो गए। उन्होंने देखा कि एक संन्यासिनी हैजे के रोगी के कपड़े धो रही है। यह सिस्टर कोई और नहीं, माँ टेरेसा की सर्वप्रथम शिष्या सिस्टर अग्नेस थीं। एडवर्ड केनेडी उनसे हाथ मिलाने के लिए आगे बढ़ गए।

“किंतु मेरे हाथ तो गंदे हैं।” सिस्टर अग्नेस ने कहा।

केनेडी बोले, “आपके हाथ जितने अधिक गंदे होंगे, मैं स्वयं को उतना ही अधिक भाग्यशाली समझूँगा। आप जो कार्य कर रही हैं, उसकी किसी भी अन्य कार्य से तुलना नहीं की जा सकती।

निश्चय ही केनेडी के ये शब्द माँ के उद्देश्यों के प्रति मानव-मात्र की सच्ची आस्था के प्रतीक हैं। वस्तुतः ऐसे कार्यों की तुलना दुनिया के अन्य किसी कार्य से नहीं की जा सकती।

जब बंगलादेश के विस्थापित बंगलादेश स्वतंत्र होने पर स्वदेश वापस

चले गए, तो शिविर के लिए मिली जगह को माँ ने छोड़ा नहीं। इसी स्थान पर 'निर्मल केनेडी' केंद्र की स्थापना हुई। इस केंद्र में मंदबुद्धि, पक्षाघात के रोगियों तथा विकलांगों के लिए आवास की व्यवस्था है। इस प्रकार के बच्चे यहाँ आम, जामुन, नारियल के वृक्षों के नीचे खेलते हुए बड़ा ही मनोहारी दृश्य उत्पन्न करते हैं।

भवन के भीतर जाने पर अनेक परित्यक्त, अवांछित और निराश्रित बच्चों के साथ ही विकलांग एवं मानसिक रोगिणी तथा परित्यक्ता स्त्रियाँ भी दिखाई देती हैं। यहाँ विशेषज्ञ चिकित्सकों द्वारा उनकी चिकित्सा होती है। पक्षाघात अथवा अन्य किन्हीं कारणों से विकलांग बने रोगियों की सेवा, सुश्रूषा, मालिश आदि करती हुई बहनें तथा विदेशी युवक भी प्रायः यहाँ देखे जाते हैं। इन सभी सेवा-परायण लोगों के मुखों पर एक अपूर्व संतोष का भाव दिखाई पड़ता है।

यहाँ जितने रोगी हैं, प्रत्येक का अपना एक दुखद अतीत है। कोई जन्मजात मूक-बधिर है, कोई बाद में किसी दुर्घटना के कारण पक्षाघात से अपनी बोलने-सुनने की शक्ति खो चुका है।

विकलांग, मंदबुद्धि बच्चों की दशा देखकर माँ का हृदय उनके प्रति ममता एवं करुणा से भर उठता था। माँ ऐसे बच्चों को मानव-मात्र पर कल्याण करने वाले के रूप में देखती थीं। उनका मत था कि ये निराश्रय, विकलांग, मूक-बधिर बच्चे मानव समाज के पापों को अपने ऊपर लेकर उन्हें सुख प्रदान करते हैं। एक बार माँ के किसी प्रशंसक ने माँ से पूछा, "माँ इन बच्चों ने क्या पाप किया था? हम बड़े लोग तो पाप करते हैं। हमें इसका दंड भी मिले तो उचित ही है, किंतु ये बच्चे तो कोई पाप नहीं करते। ये सर्वथा निष्पाप और निर्मल होते हैं, फिर इन्हें किस पाप का दंड मिलता है?"

प्रश्न वस्तुतः विचारणीय था। कुछ देर तक माँ गंभीर हो गई और फिर बोलीं, "वास्तव में सुंदरता यही है। ये निरीह, निष्पाप शिशु अगर इन कष्टों को अपने ऊपर नहीं लेते, तो पृथ्वी रसातल में धँस जाती। ये निष्पाप, निरीह शिशु ही तो हमें सुखी करने के लिए पापों का दंड भोग रहे हैं। इनके इस महान त्याग की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। हम इनके कितने ऋणी हैं, इसका वर्णन करना संभव नहीं।" भला ऐसी उदार कल्पना, ऐसे विचार किसी सामान्य मनुष्य के कैसे हो सकते हैं? माँ बच्चों को, ऐसे बच्चों को जो

दुखी हैं, पीड़ित हैं, मनुष्य-मात्र का उद्धारक अथवा दुखहर्ता समझती थीं। माँ की दृष्टि में प्रत्येक बच्चा निर्दोष, निष्पाप होता है। वह जीवन को पवित्र वस्तु समझती थीं और यथाशक्ति उसे सुंदर बनाना मानव-मात्र का कर्तव्य समझती थीं। यही माँ की महानता थी। वर्ष 1971 में जब बंगलादेश के शरणार्थी भारत आए, उनकी दयनीय दशा देख माँ द्रवित हो उठीं। उन्होंने उन दुखी, कमजोर और रोगी शरणार्थियों के लिए एक स्थान की व्यवस्था करना उचित समझा। इस विषय में कार्य प्रारंभ हुआ। पहले उन्हें एक जगह के बारे में ज्ञात हुआ। यह जगह एक बाग में थी, जहाँ फलों के वृक्ष थे। उस बाग को माँ ने 'ग्रीन पार्क' नाम दिया। माँ ने उसी बाग में बैठकर उसके स्वामी से बात की। यह वार्तालाप दिन-भर चलता रहा। माँ प्रातःकाल से निराहार थीं। रात्रि में जब वहाँ से लौटने लगीं, तो बाग के स्वामी की पत्नी उनके लिए एक गिलास नींबू का शर्बत लाई। सभी थके हुए थे। जब माँ को शर्बत दिया गया, तो वह बोलीं, "हम सभी के लिए बाहर खाना निषिद्ध है।"

"हम आपसे खाने के लिए नहीं कह रहे हैं। यह तो शर्बत है। इसे लेने में कोई हानि नहीं।" बाग के स्वामी ने कहा।

तब माँ ने वह शर्बत पी लिया और रात के 11 बजे वहाँ से लौट पड़ीं। यथासमय भूमि मिल गई और शरणार्थियों के लिए औषधि आदि की भी व्यवस्था हो गई।

## चाह, राह और मंजिल

परमात्मा में माँ की अगाध आस्था थी। वे कहती थीं, “ईश्वर ने ही मुझे यह राह बताई है। मेरे हृदय में इसका आभास पहले ही हो गया था।”

वह स्वयं को एक साधन मात्र समझती थीं। उनका दृढ़ मत था, “उनके बाद उनका यह कार्य निरंतर चलता रहेगा—यह मान भी लूँ कि सभी कार्य मैं ही करती हूँ, तो मेरे जीवित न रहने पर मेरे कार्य भी समाप्त हो जाएँगे। ऐसा मानने पर इसकी स्वाभाविक रूप में यही परिणत होगी। मेरा दृढ़ विश्वास है कि ईश्वर ही हमारे माध्यम से यह समस्त कार्य करता है। इसलिए मनुष्य के पंचतत्त्व में समा जाने पर भी कार्य कभी नहीं रुकता है। ईश्वर किसी अन्य को माध्यम बनाकर कार्य करा लेगा।”

जिस समय माँ ने स्वतंत्र रूप से पग रखा, उस समय उनके पास क्या था? कुछ न होने पर भी ईश्वर में अटूट विश्वास के कारण उन्होंने असंभव को भी संभव कर दिखाया। माँ कहती थीं, “केवल धन से ही सेवा नहीं होती, इसके लिए परमात्मा के चरणों में संपूर्ण समर्पण, प्रेम का विश्वास और आनंद, यही हमारा मूलधन है। हमारी शक्ति ही मूलधन है। सेवा का हृदय चाहिए। अस्पतालों में डॉक्टर, नर्स आदि भी सेवा करते हैं, किंतु उस सेवा में प्रेम का स्पर्श नहीं होता। सेवा में प्रेम का स्पर्श है या नहीं, यह विचारणीय होता है। प्रेम के संसार में प्रवंचना (धोखा) के लिए कोई जगह नहीं है। केवल कह देने भर से नहीं, हमें अपने कार्य से समझना होगा कि हम उन्हें प्यार करते हैं।

हृदय से अंतःस्थल से प्यार करते हैं। अतः उनके पास सदा प्रमुदित मन से जाना होगा। दुखी मन से उनके पास जाने पर उन्हें दुख होगा। वे टूट जाएँगे।”

माँ के जीवन में कई बार ऐसे क्षण भी आए, जबकि किंकर्तव्यविमूढ़ता जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई। ऐसी परिस्थितियों में कोई भी साधारण मनुष्य हार मान लेता, किंतु माँ ने विपत्तियों को भी सहज रूप में स्वीकार किया। उनके लिए विपत्तियाँ भी जीवन का अनिवार्य अंग थीं।

उनकी इन कठिनाइयों का उल्लेख पीछे प्रसंगांनुसार कई स्थलों पर हो चुका है। जब भी माँ को आवश्यकता हुई, साधन जुटते गए।

माँ ने कहा था, “पहले मेरे पल्ले में केवल पाँच सौ रुपये थे, किंतु जब जनसाधारण को हमारे कार्य के विषय में ज्ञात हुआ तो रुपये-पैसे, सारा सामान देकर हमारी सहायता करने लगे। यह सब ईश्वर की दया ही थी। पहले दिन से ही हमें किसी के आगे हाथ नहीं फैलाना पड़ा। हमारी आवश्यकता के अनुसार रुपये आते रहे।”

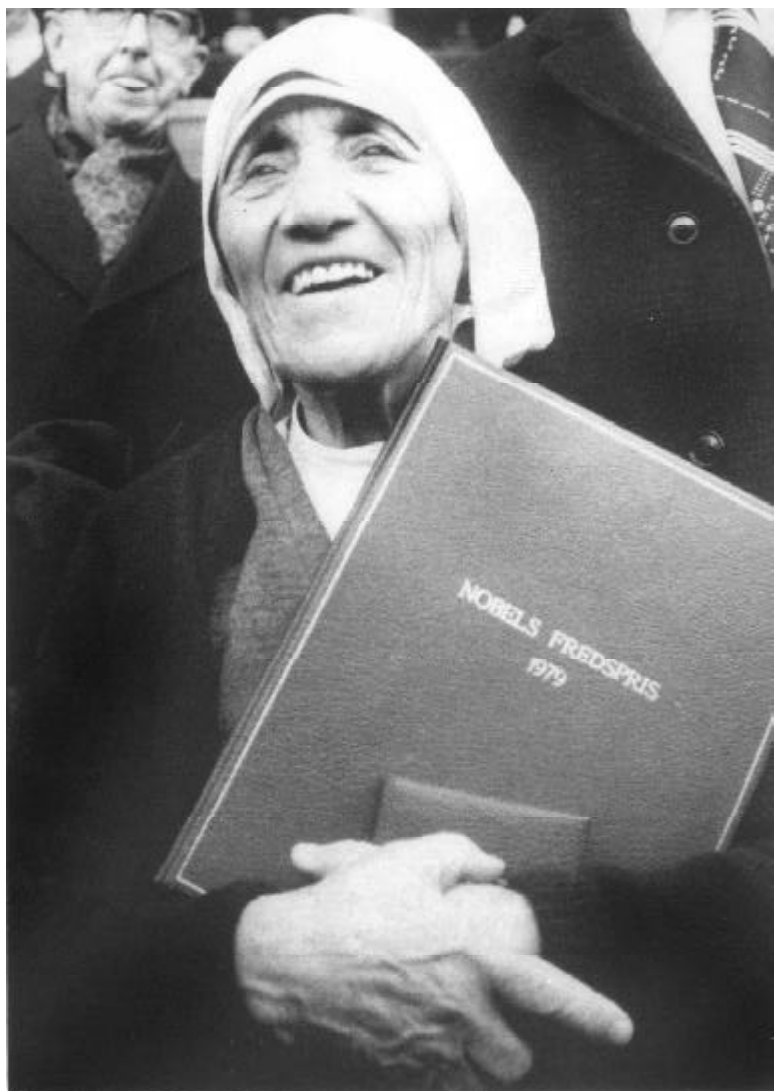
माँ को ईश्वर की यह कृपा का जीवन में कई बार अनुभव हुआ। सन् 1962 में माँ को आगरा से मिशनरीज का एक तार प्राप्त हुआ। मिशनरीज वहाँ एक शिशु भवन बनाना चाहते थे, जिसमें रुपयों की आवश्यकता थी। इस तार द्वारा माँ से पचास हजार रुपयों की व्यवस्था करने का अनुरोध किया गया था।

माँ के सामने गंभीर समस्या आ खड़ी हुई। वे इस कार्य में सहायता देना अपना कर्तव्य समझ रही थीं, किंतु माँ के पास उस समय पैसा नहीं था।

एक ओर एक पावन कार्य, दूसरी ओर अर्थाभाव की विवशता। माँ क्या करतीं? उन्होंने दुखी हृदय से आगरा की मिशनरीज को अपनी विवशता के विषय में सूचित कर दिया।

इसका उन्हें भारी दुख था। यूँ ही बैठी हुई माँ इसी विषय में चिंतित थीं कि तभी फोन की घंटी बज उठी। माँ ने फोन उठाया। किसी भद्र पुरुष ने उन्हें सूचना दी कि, “फिलीपाइन सरकार ने आपको मैगसेसे पुरस्कार देने का निर्णय लिया है, जिसके साथ पचास हजार रुपए भी दिए जाएँगे।

सूचना मिलते ही माँ हँसती हुई बोलीं, “लगता है भगवान आगरा में शिशु भवन बनवाना चाहते हैं।” माँ को इस सूचना से प्रसन्नता अवश्य हुई, किंतु यह प्रसन्नता एक सामान्य मनुष्य की तरह स्वार्थ-प्रेरित नहीं थी। यह एक निश्छल-निःस्वार्थ हँसी थी, एक सात्त्विक आनंदजन्य प्रसन्नता थी।



माँ इस प्रकार की समस्त उपलब्धियों का श्रेय भगवान को देती थीं। लोग भले ही इसे एक संयोग मात्र कहें, किंतु माँ की दृष्टि में यह ईश्वर की ही कृपा थी। यही क्या, माँ प्रत्येक क्षण में घटित घटनाओं में परमात्मा का ही संदेश सुनती थीं।

माँ का यह भी मानना था कि आरंभ में उन्हें अपने कार्य में अवश्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसमें कुछ कष्ट भी हुआ, किंतु दुख सदा रहेगा। माँ दुख को सुख का पूरक मानती थीं। दुख-सुख का पूरक है, इस प्रकार के उच्च विचार, दुख में भी सुख की भावना करना, किसी लोकोत्तर व्यक्तित्व के लिए ही संभव है।

दूसरे के दुख को अपना दुख समझना और उस दुख में भगवान को देखना, ऐसी अनुभूति तक पहुँचने के लिए मनुष्य को माँ टेरेसा के समान निःस्पृह योगी बनना होगा। माँ प्रत्येक रोगी, क्षुधाकुल, दीन-हीन एवं पीड़ित को अपना भाई समझती थीं। किसी को दुखी देखकर साधनों के अभाव में भी माँ का विशाल हृदय उसे अपना लेता था।

ईश्वर के प्रति इसी अगाध आस्था के कारण माँ कहती थीं, “रुपये से बढ़कर है—मनुष्य को कार्य के लिए प्रेरित करना। किसी को यह समझाना कठिन है कि वृद्ध, रोगी, भूखे, दुर्बल सभी हमारे भाई हैं।

महापुरुष के संसर्ग में आने पर ही कोई व्यक्ति इन शिक्षाओं को आत्मसात कर सकता है, अन्यथा सिद्धांत रूप में कोई भी व्यक्ति इन शिक्षाओं को भले ही स्वीकार कर ले, किंतु क्रियात्मक रूप में वह इन्हें नहीं अपना सकता। किसी भी विषय पर लंबा-चौड़ा व्याख्यान देना कोई कठिन कार्य नहीं है।

किंतु माँ बोलने पर नहीं कार्य करने पर विश्वास रखती थीं। अधिक बोलना व्यक्ति की दुर्बलता का ही परिचायक है। यही अंतर था सामान्य व्यक्ति और माँ टेरेसा में। समर्थ व्यक्तियों के पीछे-पीछे चलने वालों को उनका सच्चा प्रशंसक नहीं कहा जा सकता। वे स्वार्थवश ही यह सब करते हैं। उनके द्वारा की गई प्रशंसा अपनी कार्यसिद्धि का एक साधन मात्र होती है।

माँ किसी पद पर आसीन नहीं थीं, फिर भी विश्व भर में उनके अनेक भक्त हैं। उन लोगों की माँ के प्रति यह भक्ति किसी स्वार्थ के कारण नहीं है। यह भक्ति, यह श्रद्धा एक सच्चे मानव की उदार भावना के प्रति अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन है।

विश्व में मानवता की, महानता की, मानवोचित गुणों की, लोकोत्तर व्यक्तियों की सदा से ही पूजा होती आई है। माँ के प्रति विश्व समुदाय का श्रद्धा-भाव भी इसी भावना का परिचायक है।

माँ के व्यक्तित्व से बंगाल के पूर्व मुख्यमंत्री डॉ० विधानचंद्र राय श्रद्धावनत

थे। माँ जब चाहतीं, बिना कोई सूचना दिए उनसे मिलने, उनके कार्यालय अथवा आवास में चली जाती हैं।

डॉ० विधानचंद्र राय जानते थे कि माँ निःस्वार्थ सेवा की प्रतिमूर्ति हैं। एक बार उन्होंने माँ से कहा भी, “लोग तो सरकार से रुपये लेकर उनका दुरुपयोग कर डालते हैं। आप अपने आश्रमों के संचालन के लिए जितनी आवश्यकता हो, ले जाइये। आप उनका संचालन अपनी इच्छा के अनुसार कीजिए। आपको हिसाब-किसाब के विषय में सूचित करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। मुझे आप पर पूर्ण विश्वास है।”

माँ के जीवन में कई बार ऐसे क्षण आए, जिन्हें माँ पूरी तरह माँ की कृपा मानती थीं। आगरा के मिशनरीज द्वारा भेजे गए तार का प्रसंग पूर्व में उल्लिखित है। ऐसी एक अन्य घटना भी उल्लेखनीय है। एक बार शीतकाल में माँ के पास रजाइयाँ कम पड़ गईं। रजाइयों के लिए गिलाफ आ गए थे, किंतु रूई की व्यवस्था नहीं हो पा रही थी। माँ ने अपना तकिया एक ओर से फाड़ लिया, वह रजाई बनाने के लिए उससे रूई निकालना ही चाहती थीं कि घंटी बज उठी, कोई दरवाजे के बाहर खड़ा था।

दरवाजा खोला, तो एक भद्र पुरुष अंदर आए। वह विदेश जा रहा था। उसके पास कंबल, दरी, रजाइयाँ आदि लगभग नए ही बिस्तर थे। वह इन्हें माँ को देना चाहता था। माँ की समस्या का समाधान हो गया।

साधारण मनुष्य इन घटनाओं को एक संयोग मात्र कहेंगे, किंतु माँ इन्हें संयोग न मानकर ईश्वरीय कृपा मानती थीं। समय-समय पर अनेक महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने प्रेम, दया, करुणा एवं सहानुभूति आदि के आदर्श स्थापित किए हैं।

महर्षि दधीचि ने देवताओं को अपना शरीर त्यागकर अपनी हड्डियाँ दान में दे दीं। देवताओं ने उनकी हड्डियों से वज्र बनाकर वृत्तासुर का वध किया। दधीचि का यह कार्य समष्टि में व्यष्टि के वरदान का अनुपम आदर्श है।

शरणागत कपोत के प्राणों की रक्षा के लिए राजा शिवी ने बाज को अपना माँस देना स्वीकार कर लिया और काट-काटकर कपोत के भार के बराबर अपना माँस तराजू के पलड़े में रखने लगे। अंततः उन्हें स्वयं पलड़े में बैठना पड़ा। राजा शिवी का यह कार्य शरणागत की जीवन-रक्षा के लिए आत्म-बलिदान का विरला उदाहरण है।

महाराज रंतिदेव कई दिन के भूखे थे। अंत में भोजन मिला। वह भोजन करना ही चाहते थे कि एक-एक कर तीन भूखे-प्यासे याचक वहाँ आ पहुँचे। महाराज ने धीरे-धीरे अपने सम्मुख रखे समस्त भोजन को दान कर दिया। यहाँ तक कि पीने के लिए एक घूँट पानी भी नहीं बचा। रंतिदेव का यह कार्य पर दुख कातरता का एक प्रशंसनीय उदाहरण है। माँ के जीवन में ये तीनों गुण एक साथ देखे जा सकते थे। उन्होंने दीन-दुखियों के उद्धार के लिए अपने व्यक्तिगत सुखों का बलिदान कर दिया था। माँ के आश्रमों में जाकर कोई भी व्यक्ति निराश होकर नहीं लौटता।

माँ के जीवन पर एक विहंगम दृष्टि डालते ही स्पष्ट हो जाता है कि माँ अपनी संतानों के कष्ट दूर करने के लिए स्वयं कष्टों का सामना करने से कभी पीछे नहीं हटीं। उनमें हिमालय जैसी अटलता और सागर जैसी गंभीरता तथा विशालता थी। वह कभी यह विचार नहीं करती थीं कि उनके पास कितने साधन हैं, और इनसे वे कितनों का कल्याण कर सकती हैं। वह केवल सेवा करना चाहती थीं, कर्म करना जानती थीं। यही उनकी पूजा-उपासना थी। इसी में उन्हें प्रभु के दर्शन होते थे।

माँ की गोद प्रत्येक के लिए थी, दरिद्र, दुखी, रोगी, निराश्रित, परित्यक्त चाहे जो भी हो। यह सत्य है कि माँ अपनी सभी संतानों को कोई उत्तम, स्वादिष्ट भोजन तो नहीं दे सकती थीं, फिर भी वहाँ नमक-भात तो सभी को मिल ही जाता था। यह खाना भले ही रूखा-सूखा हो, किंतु माँ की ममता से अभिषिक्त होने के कारण माँ की संतानें इसे प्रसाद के रूप में ग्रहण करती हैं।

दाता के दान में दान की मात्रा, उसकी श्रेणी आदि न देखकर दाता की भावना देखी जाती है। श्रद्धा, सहानुभूति, प्रेम व अपनत्व के साथ दिया गया साधारण भोजन भी मनुष्य को अपूर्व संतुष्टि देता है। किंतु अपमान, उपेक्षा, तिरस्कार या दुत्कार के साथ दिया गया उच्च स्तरीय भोजन भी मनुष्य को अरुचिकार ही प्रतीत होगा।

आर्थिक समस्या के साथ ही आरंभ में माँ के पास सहयोगियों की भी कमी थी, किंतु ज्यों-ज्यों प्रगति होती गई, उन्हें सहयोगी-सहायक मिलते गए। प्रारंभ में माँ को ही समस्त कार्य करना पड़ता था, किन्तु शनैः-शनैः लोगों ने माँ के कार्य के महत्त्व को समझा और उसमें सहयोग देने लगे। केवल आर्थिक सहायता ही नहीं, क्रियात्मक सहायता भी।

सर्वथा संतोष। जनसामान्य दरिद्र नारायण के लिए जो दे दे, ग्रहण कर लेना चाहिए। उसे ग्रहण करने में किसी प्रकार का संकोच या कुंठा नहीं होनी चाहिए। माँ के इस कार्य से सहसा हमारा ध्यान महामना मदनमोहन मालवीय की ओर जाता है। उन्होंने विद्या के महामंदिर 'बनारस हिंदू विश्वविद्यालय' की स्थापना के लिए एक पैसा भी दान में लिया था। उन्हीं के विषय में कहा गया था— 'शरीर इनका बौने का और आशाएँ आसमान चूमती हैं।'

प्रारंभ में माँ को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किंतु जब समय आया, इन कठिनाइयों ने विदा ले ली। आज आचार्य जगदीश बसु रोड पर एक बहुत बड़ा भवन है, जहाँ लोग रहते हैं। यहाँ माँ की सहयोगी सिस्टर्स खेल सकती हैं, अपना मनोरंजन कर सकती हैं और घूम सकती हैं।

यह सब एक दीर्घकालिक तपस्या का ही परिणाम है। इस लक्ष्य पर पहुँचने के लिए माँ को कई सोपान तय करने पड़े। वह समय बड़े कष्ट का था, किंतु अब वह बात नहीं रही। तब प्रातःकाल घंटा बजने पर सब बाहर निकल जाते थे, फिर प्रार्थना करना और पढ़ना-लिखना भी पड़ता। कार्य में जुट जाने पर पूरे दिन विश्राम का अवसर भी नहीं मिलता।

इसी तपस्या के परिणामस्वरूप माँ के कार्य कई रूपों में विश्व के सामने आए। इनमें ममता का प्रतीक 'निर्मल शिशु भवन', करुणा का पर्याय 'निर्मल हृदय', दया का मूर्त रूप 'मुमूर्षु आश्रम', 'रैनबसेरा' और 'प्रेमदान' आदि केंद्रों की गणना की जा सकती है।

माँ सचमुच महान थीं। उन्होंने विश्व के सामने एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया है, जिसकी साधारण लोगों से कदापि अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। केवल अपनी अदम्य इच्छाशक्ति से उन्होंने असंभव प्रतीत होने वाले कार्य को भी संभव कर दिखाया।

वस्तुतः सुख-दुख, लाभ-हानि में समभाव ही कर्मयोगी की विशेषता है। माँ के ही अथक प्रयत्नों का परिणाम या उनकी निरंतर साधना का ही फल है कि आज 'मिशनरीज ऑफ चैरिटीज' लगभग एक सौ विद्या मंदिरों के माध्यम से विद्या का आलोक विर्किण कर रही है, जिनमें शिक्षक अवैतनिक रूप से कार्य करते हैं।

वस्तुतः निर्धनता का परिहार और शिक्षा का प्रचार, दोनों कार्य परस्पर पूरक हैं। माँ दरिद्र नारायण को अक्षर-बोध कराकर शिक्षा देती थीं, उनके

विद्या मंदिरों का शुभारंभ इसी प्रकार से हुआ। वहाँ धर्म की शिक्षा न देकर कर्म की शिक्षा दी जाती थी।

इन विद्यार्थियों में 12 से 22-23 वर्ष की आयु तक के छात्र-छात्राएँ होते हैं। ये सभी छात्र समाज के ऐसे वर्ग से आते हैं, जहाँ शिक्षा प्राप्त करना न तो सरल है और न ही सुलभ। इनमें अनेक ऐसे भी होते हैं, जिन्होंने प्राथमिक पाठशालाओं के कभी दर्शन भी नहीं किए होते हैं। कुछ ऐसे होते हैं, जिन्हें चाहने पर भी स्कूलों में प्रवेश के स्थान पर दुत्कार मिलती है।

माँ के विद्या मंदिरों में उन्हें ज्ञान-ज्योति दिखाई जाती है।

माँ की दृष्टि में सभी धर्म समान थे। वह सभी को प्रभु के रूप में ही देखती थीं। भेद-दृष्टि अज्ञान का परिचायक है, योगी समदर्शी, संन्यासी, मनीषी होते हैं।

विद्यार्थियों को शिक्षा से पहले स्वास्थ्य के विषय में प्रारंभिक जानकारी दी जाती है। अपने हाथ से क्रियात्मक रूप में उन्हें स्वच्छता आदि के महत्त्व से परिचित कराया जाता है।

माँ की सबसे बड़ी विशेषता थी, धर्म के प्रचार से पृथक् रहना। वे अपने किसी भी विद्यार्थी को कैथोलिक मत की दीक्षा नहीं देती थीं। यह उनका कार्य नहीं था। ईश्वर और धर्म दो भिन्न-भिन्न चीजें हैं। माँ मनुष्य को ईश्वर का ज्ञान कराती थीं। इस विषय में उनका कहना था, “मेरा कार्य मनुष्य को ईश्वर की ओर ले जाना है। इसके लिए आवश्यक कार्य-सेवा करना है।”

“यदि प्रभु की कृपा से उनकी किसी संतान की सेवा कर सको, तो तुम धन्य हो जाओगे। स्वयं को कोई महत्त्व न दो, तुम धन्य हो कि तुम्हें सेवा का अधिकार मिला है, औरों को नहीं मिला।”

यही सेवा-भावना माँ के जीवन का आदर्श बनीं। वह मनुष्य को केवल ईश्वर के रूप में देखती थीं। धर्म और जाति पर विचार करना उनके लिए निरर्थक था। यही माँ की सच्ची धर्म-परायणता थी। एक सच्चा धार्मिक संकीर्ण सांप्रदायिकता से ऊपर होता है। उसके लिए धर्म जोड़ने की वस्तु होती है, न कि तोड़ने की।

माँ की यही धर्म-परायणता उन्हें यूगोस्लाविया से भारत खींच लाई थी। दीन-दुखियों की सेवा, दलितों, निराश्रयों, अनाथों को आश्रय, रोगियों-पीड़ितों का उपचार, यही माँ का धर्म था। वह प्रभु यीशु की सच्ची शिष्या थीं। वह

प्रत्येक अनाथ में, निराश्रित में, दुखी में, पीड़ित में, उनके उपचार, सेवा-सुश्रूषा में प्रभु यीशु को ही देखती थीं।

प्रारंभ में विद्या मंदिर खुला, दलित वर्ग में विद्या का प्रसार होने लगा। माँ का एक सामान्य नियम यह था कि 'मिशनरीज ऑफ चैरिटी' की कोई भी बहन अकेली ही बाहर जाती। किसी भी काम के लिए जाने पर दो बहनें साथ जातीं। जब कभी-कभी सभी बहनें कार्य के लिए निकल पड़तीं और माँ अकेले रह जातीं तथा उन्हें भी किसी कार्य के लिए बाहर जाना होता, तब माँ माइकल गोमेज की पुत्री या उस परिवार की किसी अन्य महिला को साथ ले जातीं।

प्रातः आठ बजे निकलने पर बारह-एक बजे तक लौटना होता। कभी-कभी इससे भी अधिक विलंब हो जाता। एक दिन माँ को लौटने में काफ़ी विलंब हो गया। माँ न लौटीं, तो माइकल गोमेज की पत्नी को बड़ी चिंता हुई। जब माँ लौटकर घर पहुँचीं, तो पूरी भीग गई थीं।

पर दुख कातर माँ को अपने भीगने की कोई चिंता न थी।

श्रीमती माइकल गोमेज ने जब उनका ध्यान उनके भीगने की ओर आकृष्ट किया, तो माँ बोल उठीं, "आज बस्ती में मैंने जो कुछ देखा, उसकी तुलना में यह भीगना कुछ भी नहीं है।"

अपनी देखी हुई हृदय द्रावक घटना का वर्णन करते हुए माँ ने बताया, "बस्ती के टूटे-फूटे कमरे में एक महिला खड़ी थी, कमरे में घुटनों तक पानी भरा हुआ था। महिला अपने बेटे को कंधे पर लिये हुए थी, जो बुखार से तप रहा था। बेटे को बचाने के लिए माँ ने उसके सिर पर एक बर्तन छाते की तरह तान रखा था। इस सबका कारण यह था कि वह महिला उस कमरे का दो महीने का किराया नहीं दे पाई थी। इसलिए कमरे के मालिक ने कमरे की छत तोड़कर महिला को निकाल दिया था।"

इतना सब बताने के बाद माँ पुनः बोलीं, "देखो, मैं अभी उस बस्ती में जा रही हूँ। केवल आठ रुपयों के लिए बेचारा मासूम बच्चा भीषण बुखार में भीगकर चल न बसे।"

ऐसी घटनाओं की कोई सूची नहीं है। अतः इन घटनाओं ने माँ के करुणामय हृदय को उद्वेलित करके रख दिया। इसी प्रकार की एक अन्य घटना भी उल्लेखनीय है। एक दिन कुछ बहनें एक बच्चे को माँ के पास लाईं। बच्चा पेट-दर्द से तिलमिला रहा था। बहनों ने बताया कि 'बाहर पड़ा

सड़ा-गला खाने से उसे पेट-दर्द हो रहा है।’

माँ इस घटना से द्रवित हो उठीं। वे बच्चे के आगे बैठ गईं और उससे पूछा कि उसने क्या खाया था? माँ की ममतामयी वाणी सुनकर बच्चा रोने लगा, किंतु वह मूक होकर रो रहा था, निःशब्द रुदन। बच्चे ने बताया कि पिछली दो सुबहों से उसके पेट में एक दाना भी नहीं गया था। दो दिन से वह पूरी तरह भूखा था, इसलिए उसकी आँतें कुलबुलाने लगी थीं। यही उसके पेट-दर्द का कारण था।

पहले घर का प्रायः सभी कार्य माँ स्वयं ही करती थीं। काम करते-करते वह थक जातीं, किंतु थमने का नाम न लेतीं। बहुधा सहयोगी बहनों को उन्हें सोने के लिए मनाना पड़ता था।

अपने संघर्ष-काल में माँ को अत्यंत परिश्रम करना पड़ता, किंतु शरीर के थककर चकनाचूर हो जाने पर भी उन्होंने थकान के सामने कभी हार न मानी। थकान शरीर की नहीं मन की होती है। इसलिए माँ ने हार नहीं मानी। उनकी इच्छाशक्ति अदम्य-अटल थी, हिमालय की तरह।

इन्हीं संघर्षों के परिणामस्वरूप आज माँ की ममता अनेक रूप में, अनेक स्थानों पर मानवता की सेवा कर रही है। इस कार्य में उनकी सहयोगी बहनों का योगदान भी अविस्मरणीय रहेगा। वे सभी बिना कुछ कहे, प्रचार से दूर रहकर कर्मरत रहती हैं।

कर्मयोगी कार्य करता है। उसे कर्मण्यता में विश्वास होता है। प्रचार-प्रशंसा जैसी चीजों का उसकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं होता, ‘चरैवेति-चरैवेति’ ही उसके जीवन का मूलमंत्र होता है। इसलिए माँ सफलता के उन्नत शिखर पर पहुँच पाई थीं।

माँ पहले अपने दम पर कार्य-क्षेत्र में प्रवृत्त हुईं। सर्वथा अकेली-“एकला चलो रे” का सिद्धांत सामने रखकर।

कुछ ही दिनों बाद सेवाभाव-परायण युवतियाँ स्वेच्छा से माँ के पास आने लगीं। जहाँ चाह होती है, राह स्वतः मिल जाती है। सर्वप्रथम 19 मार्च, सन् 1949 के दिन एक बंगाली युवती सिस्टर अग्नेस ने माँ की सहयोगी के रूप में अपने को प्रस्तुत किया। इसके बाद ही वे सिस्टर अग्नेस बनीं। पहले उनका नाम सुभाषिणी दास था, जो माँ की छात्रा रह चुकी थीं।

इसके बाद एक वर्ष के अंतर्गत कई बंगाली युवतियाँ माँ के पास आईं

और उनके इस पावन कार्य में हाथ बँटाने लगीं। इनमें अधिकतर माँ की पूर्व छात्राएँ थीं। इन पूर्व छात्राओं में किरन दत्त, रोजारियो, गोमेज परिवार की पुत्रियों आदि के नाम दिए जा सकते हैं। किरन दत्त सिस्टर क्लेयर बनीं। रोजारियो का नया नाम सिस्टर बर्नार्ड हुआ, गोमेज परिवार की माँ की दो पूर्व छात्राएँ डोरोथी फ्रांसिस तथा सिस्टर गुर्दुज बन गईं। माइकल गोमेज की भांजी को सिस्टर लेरीसिया का नया नाम मिला। एक अन्य छात्रा रोजारियो सिस्टर फ्रांसिस्का हो गई। गोमेज परिवार से दो अन्य युवतियाँ भी माँ की सहयोगी सिस्टर फ़्लोरेंस विसेंट और सिस्टर मार्ग्रेट मेरी बनीं।

इस समय 'मिशनरीज ऑफ चैरिटीज' में एक हजार से अधिक बहनें सेवा धर्म का पालन कर रही हैं। जिनमें कई सौ तो प्रौढ़ावस्था में पहुँच गई हैं। अधिकतर बहनें युवावस्था में होती हैं। वरिष्ठ सिस्टर उनके मन को पवित्र करना भी अपना कर्तव्य समझती हैं।



प्रारंभ में माँ अकेली थीं, इसके बाद सिस्टर अग्नेस ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। इस प्रकार उनकी शिष्य-संख्या में निरंतर वृद्धि होती गई। बहनें ही नहीं अनेक भाई भी उनकी संस्था के लिए कार्य कर रहे हैं।

संन्यासी का जीवन फूलों की सेज नहीं, कठोर साधना का जीवन है। 'जो घर बारे आपनो, चले हमारे संग'। इस सिद्धांत को सामने रखने वाले कर्मयोगी ही माँ के पथ के अनुयायी बनने का विचार कर सकते हैं। माँ कभी किसी को इस मार्ग पर चलने को बाध्य नहीं करती थीं।

माँ द्वारा संचालित संस्थाओं में सभी सहयोगी सर्वथा स्वार्थरहित भावना के, बिना किसी कुंठा के कार्य करते हैं। वहाँ न किसी में बड़प्पन या वरिष्ठता की भावना है, न किसी प्रकार का ईर्ष्या-भाव ही। सभी समान हैं, किसी को भी कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है। कोई भी न तो अधिकार प्राप्त करना चाहता है, न सुख-सुविधा ही। कमरों की सफ़ाई, पोंछा लगाना, बर्तन धोना आदि कार्य सभी करते हैं। सभी इन कार्यों को करना अपना पुनीत कर्तव्य समझते हैं।

प्रारंभ में पाँच-छह युवतियाँ ही माँ के कार्य में सहयोग देने के लिए आगे बढ़ीं, जो सभी बंगाल की थीं। इसके बाद अन्य प्रांतों से भी युवतियों का आना

शुरू हुआ। मानवता की सेवा के लिए, संन्यास धर्म की दीक्षा लेने के लिए। कुछ ही वर्षों में यह संख्या हजार से ऊपर पहुँच गई।

आज कोलकाता महानगरी में यत्र-तत्र ये बहनें दिखाई देती हैं, नीले किनारे की सफ़ेद धोती पहने हुए। धोती पहनने की भी एक सहज, सौम्य ग्रामीण भारतीय महिला की जैसी शैली। घूँघट न सही, समस्त केशराशि को ढँकती हुई धोती, पूरी बाँहों का ऊपरी वस्त्र। सन् 1952 तक माँ की केवल 11 सहयोगी बहनें थीं। किंतु आज!

इन बहनों को कमरों की सफ़ाई, कपड़े धोना, पानी लाना, रोगियों की सेवा, शिशु भवन के बच्चों की देखभाल, बस्तियों में जाकर निर्धनों की सेवा आदि सभी कार्य करने होते हैं।

कर्मयोगी और साधना का एक अद्भुत उदाहरण है इन बहनों का जीवन। माँ के कार्य उनके आदर्श हैं।

अपने लिए सुखों का वहाँ कोई भी विचार नहीं करता। उन्हें सेवा करने में ही सच्चा सुख मिलता है। दिन में नौ-दस बजे के आस-पास आचार्य जगदीश बसु रोड स्थित 'मिशनरीज ऑफ़ चैरिटीज' पहुँचने पर वहाँ सिस्टर्स सफ़ाई करती हुई दिखाई देती हैं। कूड़े के डिब्बे को उठाकर नगर-निगम के कूड़ाघर में फेंकती हैं। यह उनकी नित्य की दिनचर्या का अनिवार्य अंग है।

माँ का जीवन भी अत्यंत साधारण था, न कोई सुख, न सुविधा। उनके सोने-लेटने के लिए एक छोटा-सा लकड़ी का चौकीनुमा तख्ता। उस पर एक पतला-सा गद्दा तथा एक साधारण-सी चादर।

इन बहनों के साथ भोजन के लिए जाना माँ को अत्यंत प्रिय लगता था। यही नहीं, यदि कोई धार्मिक सिनेमा लगा हो, तो माँ इन बहनों की टोली के साथ सिनेमा देखने भी जाती थीं। ऐसी फिल्म लगने पर माँ इन बहनों के लिए बिना पैसा दिए टिकटों का भी प्रबंध करती थीं।

इतना सब होने पर भी यह सभी बहनें सेवा को सर्वोपरि धर्म मानती हैं। समस्त सुखों का परित्याग कर दरिद्रता का वरण करना हर किसी के वश की बात नहीं है। वे अपना सर्वस्व प्रभु के चरणों में समर्पित कर देती हैं। इसे ही वे अपने जीवन की सार्थकता समझती हैं।

• • • • •

कोई भी युवती यदि माँ के साथ कार्य करना चाहती थी, तो माँ उसे निराश नहीं करती थीं। ऐसी नवागंतुकाओं को छह मास तक पुरानी बहनों के साथ काम सीखना पड़ता है, जिससे वे स्वयं यह समझ सकें कि वे जो कर रही हैं, ईश्वर के लिए कर रही हैं। यह ईश्वर ही उनसे यह सब करवा रहा है। इस अवधि में इन प्रशिक्षु युवतियों की कार्य के प्रति भावना की भी परीक्षा ली जाती है।

इसके बाद अगले छह माह तक उन्हें आध्यात्मिक जीवन की प्रारंभिक शिक्षा लेनी पड़ती है। इस शिक्षा की समाप्ति के पश्चात् दो वर्षों तक धर्म-संप्रदाय का प्रशिक्षण लेना पड़ता है। इस प्रशिक्षण में प्रशिक्षु को कष्टों की भी साधना कराई जाती है। उन्हें 'मिशनरीज ऑफ चैरिटी' के नियमों और अनुशासन का भी ज्ञान कराया जाता है। इस ज्ञान के पीछे यही उद्देश्य निहित है कि बहनें अपने जीवन, शरीर और मन से जिस सेवा का संकल्प ले रही हैं, उसके उद्देश्यों से भली-भाँति परिचित हो जाएँ।

इन उद्देश्यों को स्पष्ट करने के लिए माँ के निम्नलिखित शब्द उद्धृत किए जा रहे हैं—

“सिस्टर्स वही देना चाहती हैं, वह सब कुछ समर्पित कर भगवान को प्राप्त करना चाहती हैं। वह यह भली प्रकार जानती हैं कि प्रभु यीशु कभी भूखे, कभी नंगे अनेक प्रकार के रूपों में हमारे सामने आते हैं। हम इसी प्रकार यीशु की सेवा करती हैं, उन्हें प्यार करती हैं। वे इतने समय तक जिस वस्तु को खोजती रहती थीं, वह उनकी मुट्ठी में आ जाने से वे प्रसन्न हैं। यह सब तो अनुभव करने की वस्तु है। बलपूर्वक अथवा रुपयों-पैसों से वह प्रसन्नता प्राप्त नहीं होती। यह तो हृदय की गहराइयों से प्राप्त होती है।”

“यदि हम कार्य को अपने धर्म की आँखों से देखें, तो स्वाभाविक रूप में यही लगता है कि हम कुछ भी नहीं कर सकेंगे, किंतु जब हम इसे यीशु का काम समझ लेंगे तो फिर कोई बाधा, रुकावट नहीं लगेगी और यही कारण है कि यह कार्य संभव हुआ है। हम इस विषय में निश्चित हैं, क्योंकि प्रभु ही हमसे सब कार्य करवा लेते हैं। गरीबों के लिए जो कुछ होता है, वह उन्हीं (यीशु) की इच्छा से संपन्न होता है।”

“सब यीशु के पास ही आता है। इसे (प्रार्थना को) छोड़कर हम कुछ नहीं कर सकते। यीशु की मूर्ति के समक्ष घुटने टेककर प्रार्थना करते समय हम

गरीबों को दुख और कष्टों की तस्वीर देख सकते हैं। सब कुछ हमारे मन-पटल पर साकार हो उठता है और वहाँ बैठकर हमें यह अनुभव होता है कि यह दुख, कष्ट ही महत्तर प्रेम के राज में प्रवेश करने का श्रेष्ठ मार्ग है।”

“अविश्वास के कारण अधिकतर लोग स्वार्थ-परायणता और व्यक्तिगत लाभ-हानि को लेकर स्वयं में ही मग्न हैं। कुंठा रहित प्रेम का दान किए बिना विश्वास का जन्म नहीं होता। प्रेम और विश्वास पर्यायवाची न होने पर भी इन दोनों की गति एक ही है। ये परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं।”

“लोगों से मिलना-जुलना होगा, उन्हें समझाना होगा कि मनुष्य में ही ईश्वर विद्यमान है। उसी ‘सीमा के अंदर’ असीम की तरह सर्वशक्तिमान ईश्वर मनुष्य में ही नए रूपों में प्रकाशित होता है। हम यीशु को नहीं देख सकते। हम उन्हें प्यार का परिचय प्रत्यक्ष रूप में नहीं दे सकते, किंतु हम अपने पड़ोसियों को सदा देख सकते हैं। यीशु को देखकर हम जो कुछ करते हैं, हम अपने पड़ोसियों को उसी यीशु का रूप समझकर उन गरीब पड़ोसियों के लिए वही कर सकते हैं।

“इस सेवा के कार्य में पग-पग पर कठिनाइयों की आशंका रहती है। हमें एक बात सदा याद रखनी होगी कि हम जो कुछ भी करें, उन सबके लिए करें। हर बस्ती में पुरानी झोपड़ियों में भूखे-तिरस्कृत, जो समय व्यतीत कर रहे हैं, वे सब हमारी ही तरह सुख-दुख से बने हुए मनुष्य हैं। इस तथ्य को कभी न भूलें। गरीब की उपेक्षा करने में अपने ‘अहं’ की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई बात नहीं है। यदि सभी लोग गरीबों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करें, तो विश्व का स्वरूप ही दूसरा हो जाएगा।” माँ की इसी सतत साधना का परिणाम है कि आज कोलकाता में कालीघाट, दमदम, तिलजला, शांति नगर, आसनसोल, टीटागढ़ के साथ ही दिल्ली, बंबई, आगरा, राँची, अंबाला, झाँसी, अमरावती, भागलपुर, रायगढ़ आदि स्थानों पर ‘मिशनरीज ऑफ चैरिटीज’ के लगभग 60-65 प्रतिष्ठान दीन-दुखियों की सेवा कर रहे हैं।

भारत ही नहीं विदेशों में भी इसके अधीन कई प्रतिष्ठान कार्यरत हैं। स्विटजरलैंड, आस्ट्रेलिया, अमेरिका, कनाडा, इटली, आस्ट्रिया, इंग्लैंड, हालैंड, डेनमार्क, माल्टा, वेनेजुएला, आयरलैंड, न्यूजीलैंड आदि देशों में लगभग तीस प्रतिष्ठान भी माँ के आदर्शों पर चलकर सेवा-भावना का परिचय दे रहे हैं।

‘मिशनरीज ऑफ चैरिटीज’ के साथ ही माँ की विराटता की सूचक एक

अंतर्राष्ट्रीय संस्था 'इंटरनेशनल एसोसिएशन ऑफ को-वर्कस ऑफ मदर टेरेसा भी है। कुल मिलाकर माँ की ममता अनेक रूपों में सामने आकर महानता का संदेश फैला रही है।

भारत में 'निर्मल हृदय', 'निर्मल शिशु भवन', 'निर्मल केनेडी केंद्र' जैसे प्रतिष्ठान रोगियों, निराश्रितों, विकलांगों आदि की सेवा करते हुए मानवता को एक नई दिशा दिखा रहे हैं।

अपनी प्रायः नौ-दस वर्षों की तपस्या के परिणामस्वरूप माँ ने सर्वप्रथम सन् 1959 में कोलकाता नगर के बाहर एक भवन का निर्माण कराया, क्योंकि माँ की सहयोगी बहनों की संख्या बढ़ती जा रही थी। उन्हें प्रशिक्षण देकर ही देश के अन्य भागों में भी कार्य का विस्तार किया जा सकता था। तब माँ का कार्य-क्षेत्र केवल कोलकाता तक ही सीमित था। इसके बाद दिल्ली में एक भवन का निर्माण हुआ।

सन् 1950 में माँ की केवल सात सहयोगी बहनें थीं। शनैः-शनैः यह संख्या बढ़ती रही। इनमें अधिकतर बंगाल, बिहार, असम, उ०प्र०, मेघालय और उड़ीसा की थीं, साथ ही कुछ एंग्लो-इंडियन तथा विदेशी भी संन्यास धर्म की दीक्षा लेने आईं। इन बहनों में अधिक संख्या मध्यम वर्ग की ही थी, किंतु कुछ धनी परिवारों की पुत्रियाँ भी धन-संपत्ति का मोह छोड़कर इस पावन कार्य में सहयोग देने आईं।

इन बहनों की सेवा-भावना के विषय में माँ के निम्नलिखित शब्द उल्लेखनीय हैं—

“इन उच्च, मध्यम वर्ग की लड़कियों ने जीवन का सर्वस्व मिटा देना चाहा। उन्होंने अपना जीवन भगवान को समर्पित कर दिया। सब कुछ भगवान के चरणों में समर्पित कर देने में ही उनका जीवन सार्थक था। मान-सम्मान सब कुछ छोड़कर उन्होंने मनुष्य की सेवा में ही ईश्वर को प्राप्त करना चाहा। करुणा के असीम समुद्र भगवान को उनका हृदय कभी विस्मृत न कर दे, उनकी कृपा से निर्धनतम भाव की सेवा का सुअवसर इन्हें प्राप्त हुआ।”

“जिन दिनों इन्हें सेवा के इस व्रत में लगाया तभी से हम अपने सेवा-कार्य के विषय में इनके साथ विचार-विमर्श करते हैं। भगवान के समीप इच्छा पूर्ण करने की बात लेकर भी वार्तालाप होता है। प्रार्थना आध्यात्मिक शक्ति का संचय करती है और उसी शक्ति का संबल पाकर उन्हें बस्तियों में

जाना होता है। वहाँ कार्य करना और लोगों से मिलना-जुलना, ये दोनों कार्य प्रशिक्षण में सम्मिलित हैं। सामान्यतः नोविसेज (नए लोग) प्रशिक्षण के प्रथम चरण में बाहर नहीं जाते, किंतु हमारी चौथी प्रतिज्ञा—दरिद्र-से-दरिद्र मनुष्य की सेवा करना, दरिद्र रूप में यीशु की सेवा करने के लिए बस्तियों में लोगों से मिलने-जुलने की आवश्यकता होती है। इसलिए उन्हें दरिद्रतम लोगों के सामने जाना पड़ता है। उनकी जीवनधारा का प्रवाह किधर होगा, इस विषय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना इनके लिए आवश्यक है। निर्धनतम मानव जीवन के सुख-दुख के मध्य यीशु के अस्तित्व को चौबीसों घंटे प्राप्त करने के लिए तत्पर होने से पूर्व प्रारंभिक ज्ञान संचित करने का केंद्र ये बस्तियाँ ही हैं।”

नवागंतुक बहनों के यहाँ प्रवेश के समय उन्हें यहीं की कार्यशैली तथा भावी जीवन-पद्धति का ज्ञान कराया जाता है। इसके लिए इन विषयों पर तर्क-वितर्क किए जाते हैं। इससे उन्हें परखने का अवसर भी मिल जाता है। क्योंकि प्रत्येक पक्ष को देखकर, उसकी समालोचना करके ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

यह समस्त साधना अत्यंत कठोर है। इसमें कोई पूर्ण समर्पित ही खरा उतर सकता है, फिर भी आज तक ‘मिशनरीज ऑफ चैरिटीज’ छोड़ने वाली बहनों की संख्या नगण्य ही रही है। इस विषय में माँ ने कहा था—

“बहुत कम, बहुत ही कम संख्या में सिस्टर्स चली गई हैं। जो भी चली गई हैं उन्हें उँगलियों पर गिना जा सकता है। वास्तव में यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि प्रारंभ से ही इतनी अधिक संख्या में सिस्टर्स विश्वास के साथ काम करती आ रही हैं।”

“उनके लिए यह चुनौती की तरह है। उन्होंने सर्वस्व त्याग करना चाहा था, कठिनतम जीवन का सामना करना चाहा था। इस जीवन को प्राण-पण से प्यार करना होगा। दरिद्रता को अपना आभूषण बनाकर प्रत्येक के बीच काम करने के लिए जाना होगा। प्यार का मूर्त रूप बनना ही भगवान के प्रति समर्पित कार्य है। हमारे प्यार का स्पर्श किसी-न-किसी के लिए तो निर्दिष्ट है ही। हमारे चेहरों पर खिलने वाली प्रसन्नता ही हमारी सोसाइटी की शक्ति का मूल कारण है। स्वयं का ईश्वर के चरण कमलों में समर्पण, प्रेम का विश्वास, आनंद यही हमारा मूलधन है। क्या सेवा धन से होती है? नहीं, केवल धन से ही सेवा नहीं होती। सेवा का हृदय चाहिए। अस्पतालों में डॉक्टर, नर्स भी तो

सेवा करते हैं। उस सेवा में प्रेम का स्पर्श भी है या नहीं, यह विचारणीय बात है। प्यार के संसार में छल के लिए कोई स्थान नहीं है। मुँह से नहीं, कार्य से समझना होगा कि हम उन्हें प्यार करते हैं। प्यार करते हैं, हृदय की गहराइयों से इसलिए उनके पास सदा प्रसन्न मन से जाना होगा। दुखी मन से जाने पर वे लोग और अधिक टूट जाएँगे।”

“हमारा लक्ष्य यही है, दरिद्रतम व्यक्ति को यीशु का रूप समझकर उसकी सेवा करना, उसे प्यार करना।”

यही भावना, प्रभु के प्रति समग्र समर्पण, सर्वत्र प्रभु का ही अवलोकन, असीम करुणा, मानव-मात्र के प्रति ममता का भाव, सुखों को तुच्छ समझना, दरिद्र नारायण की सेवा में ही सुखों का उत्सव समझना आदि उदात्त मानवतापूर्ण विचार माँ की सफल साधना के मूल कारण थे।

इस प्रकार की समर्पण भावना ने ही उन्हें विश्व का श्रद्धेयतम व्यक्तित्व बना दिया। इसलिए उन्हें अपने मार्ग में आने वाली समस्त कठिनाइयों पर विजय प्राप्त हुई। माँ की बहनें जब कभी ‘कल’ की व्यवस्था के विषय में कहती थीं, तो माँ का एक ही उत्तर होता, “क्यों? क्या भगवान हमें नहीं देख रहे हैं?”

इन सभी संन्यासिनियों को परिश्रमपूर्ण कठोर जीवन का निर्वाह करना पड़ता है। नीले किनारे की सफ़ेद धोती तथा पूरी बाँहों का सफ़ेद ब्लाउज ही उनका परिधान है।

सभी को प्रातः चार बजे उठना होता है। नित्य कर्मों के बाद सुबह 6:30 बजे प्रार्थना होती है। इसके बाद प्रातः का अल्पाहार, फिर सफ़ाई आदि कार्यक्रम होते हैं, वस्त्रों और घर की सफ़ाई प्रत्येक को करनी पड़ती है। उसके बाद उन्हें अपने-अपने कार्यों पर जाना पड़ता है। दोपहर में सभी अपने निवास पर लौट आते हैं। इस समय दोपहर का भोजन होता है। भोजन के बाद पुनः प्रार्थना की जाती है।

दोपहर बाद नियमित कक्षाएँ होती हैं, जिनमें नियम आदि पढ़ाए जाते हैं। 12:30 बजे निवास स्थान पर लौटने के बाद अपराह्न दो बजे पुनः कार्य पर चले जाना होता है। सायंकाल 7 बजे सभी वापस लौट आती हैं। उस समय पुनः प्रार्थना होती है।

प्रार्थना में सभी बहनों का उपस्थित होना नितांत आवश्यक है। माँ की दृढ़

मान्यता थी कि इन बहनों को समाज-सेवा के साथ ही धर्म का भी पालन करना चाहिए।

सुख-ऐश्वर्य आदि की कामना के लिए इनके सिद्धांत में कोई स्थान नहीं है। परिश्रम, सेवा, शुद्ध आचरण, प्रभु स्मरण ही इनका जीवन है। सभी बहनें इन सिद्धांतों का पूरी निष्ठा के साथ पालन करती हैं। कार्य के समय कोई भी बहन घर में नहीं बैठ सकती। इस नियम की कभी अवहेलना नहीं होती, क्योंकि कर्तव्य-पालन करना ही ये सब अपना धर्म समझती हैं।

इन बहनों को सभी कार्य अपने हाथों से करने पड़ते हैं। सुख-सुविधा या आराम देने वाली वस्तु न तो खरीदी जाती है और न ही दान में स्वीकार की जाती है। एक बार किसी महाशय ने मिशनरीज ऑफ चैरिटीज को कपड़े धोने की एक मशीन प्रदान करने की इच्छा व्यक्त की। उन्होंने अपनी यह इच्छा माँ के सामने रखी। सभी बहनें जब माँ के पास पहुँची, तो माँ ने इस विषय में उनका मत जानना चाहा। सभी ने समवेत स्वर में उत्तर दिया, “माँ! हम कपड़े धो लेंगी, मशीन की कोई आवश्यकता नहीं है।” कदाचित् माँ को अपनी बहनों से यही अपेक्षा थी, अतः कपड़े धोने की मशीन नहीं ली गई।

आरंभ में ‘मिशनरीज ऑफ चैरिटीज’ के भवन में फोन भी नहीं था। बाद में काम अधिक बढ़ जाने से इसकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। अतः एक फोन लगा लिया गया।

विश्व के अनेक पुरस्कारों में माँ को लाखों रुपये की धनराशि प्राप्त हुई, किंतु माँ ने इस समस्त राशि को मानवता के कल्याण में लगा दिया। इस प्रकार प्राप्त धन पर माँ अपना अधिकार नहीं समझती थीं।

सन् 1979 में जब माँ को शांति कार्यो के लिए नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया, तो माँ ने कहा था, “यह पुरस्कार मेरा नहीं, अपितु विश्व के मानवता के पुजारियों का है।”

इसी सिद्धांत को सामने रखकर माँ अत्यंत सामान्य जीवन बिताने की पक्षधर थीं। माँ ने किसी धन के लिए किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया, फिर भी उन्हें विभिन्न पुरस्कारों से काफ़ी बड़ी धनराशि प्राप्त हुई। इस धन को उन्होंने पर्याप्त विचार के बाद कल्याणकारक कार्यो में व्यय किया। निर्मल हृदय में बहनें तथा भाई वही भोजन करते हैं, जो रोगियों को दिया जाता है।

• • • • •

आज विश्व के अनेक देशों में माँ के संगठन की संन्यासिन बहनें सेवा-धर्म का पालन कर रही हैं। कहीं भी नया केंद्र खोलने अथवा बहनों को भेजने से पूर्व माँ स्वयं जाकर देखती थीं कि वहाँ बस्तियों में भूखों, असहायों आदि की संख्या तथा स्थिति क्या है। इन समस्त विवरणों से संतुष्ट हो जाने पर ही माँ वहाँ नया केंद्र खोलती थीं।

एक बार जब माँ को ज्ञात हुआ कि वेनेजुएला में परित्यक्त बच्चों की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है, उनका हृदय द्रवित हो उठा, माँ वेनेजुएला गई, समस्या वस्तुतः बड़ी चिंतनीय हो गई थी, अतः माँ ने वहाँ नया केंद्र खोलना स्वीकार कर लिया।



अनथक साधना, अपूर्व त्याग, सर्वस्व त्याग माँ के जीवन का ही रूप रहा। वह सेवा की मूर्ति थीं। उन्होंने सर्वथा साधनहीन होने पर भी विश्व में जो महान आदर्श प्रस्तुत किया, वह प्रशंसनीय ही नहीं स्तुत्य भी है।

उन्हें अपने कार्य के प्रारंभ में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किंतु वह कभी न उद्विग्न हुईं और न विचलित ही। उन्होंने कष्टों को भी प्रभु के प्रसाद के रूप में देखा। माँ कर्मयोगी रहीं, अनासक्त कर्मयोगी। उन्हें न विपत्तियों का भय रहा, न सफलताओं से वह हर्षित हुईं। उन्होंने पवित्र उद्देश्य के लिए अनवरत क्रियाशीलता को अपना धन समझा। दुखी-दरिद्रों की सेवा में प्रभु के दर्शन किए। फलतः कठिनाइयाँ आने पर भी सफलता ने उनके चरण चूमे।

प्रभु यीशु के चार आदर्श—दरिद्रता, पवित्रता, अनुगमन तथा दान ही माँ और 'मिशनरीज ऑफ चैरिटीज' और 'मदर टेरेसा मेमोरियल ट्रस्ट' के जीवन के आदर्श बने। ये चारो आदर्श कोलकाता के जगदीश बसु रोड पर इस संस्था के एक कमरे में पट्ट पर भी लिखे हैं।

माँ की अनुयायी ये बहनें विश्व के अनेक भागों में इन आदर्शों का पालन कर रही हैं। उन्हें दरिद्र-पीड़ित, रोगी-निराश्रित सभी प्रकार के लोगों की सेवा करनी पड़ती है। न उन्हें गंदगी से परहेज है, न कुष्ठ जैसे घृणास्पद समझे जाने वाले रोग से घृणा, न उन्हें किसी पापी के प्रति किसी प्रकार का द्वेष है, न सांसारिक सुखों से अनुराग।

“हे भगवान! हमें विश्व-भर के पीड़ितों की सेवा के योग्य बनाओ, ऐसे पीड़ितों की जो दरिद्रता एवं भूख में जन्म लेते हैं और उसी में काल कवलित हो जाते हैं। हमारे हाथ उन्हें रोटी देते हैं। हमारा प्रेम और शांति उन्हें प्राप्त होती रहेगी।”

इसी आदर्श को सामने रखकर वे दीन-दुखियों की सेवा निरंतर करती रहीं।

ये बहनें प्रभु का काम समझकर विश्व के अनेक देशों में पीड़ितों की सेवा करती रहीं। वे आदिवासियों के बीच में रहकर भी उसी प्रकार प्रसन्न रहती थीं। भारत, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि देशों के आदिवासियों के बीच रहकर उन्हें किस प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता होगा, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

उनके लिए समस्त पृथ्वी उनका अपना घर थी। कोलकाता, लंदन जैसे महानगर हों या आदिवासियों की बस्तियाँ, उनके लिए सब समान थे। यहाँ की बहनें शराब का स्पर्श नहीं करतीं, किंतु विदेशों में उन्हें शराबियों के बीच भी रहना पड़ता है, क्योंकि उन्हें पाप से घृणा है, पापी से नहीं। माँ उन्हें प्रत्येक देश-समाज की परंपराओं से परिचित कराती थीं, जैसे अफ्रीका में किसी को गरीब शब्द से संबोधित नहीं किया जाता। इस शब्द के अनेक अर्थ होने के कारण उन्हें वहाँ भाई, बहन इत्यादि शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

माँ तथा उनकी सहकर्मिणी बहनों की इसी सेवा-भावना के कारण विश्व के अनेक राजनेताओं ने उनके कार्यों की समय-समय पर प्रशंसा की। इसका उत्कृष्ट उदाहरण है एडवर्ड केनेडी के सिस्टर अग्नेस से कहे गए शब्द, “आपके हाथ जितने गंदे होंगे, मैं स्वयं को उतना ही धन्य समझूँगा।”

माँ एक व्यक्ति न होकर एक संस्था बन गई थीं। एक प्रतीक, सेवा-भावना, ममता और प्रेम की प्रतीक। उनकी इन्हीं महानताओं के कारण समग्र विश्व उनका भक्त बना। उनके कार्य में थोड़ा-सा भी सहयोग देकर लोग स्वयं को धन्य समझने लगे।

माँ के पास प्रतिदिन अनेक पत्र आते रहते थे। उनमें विभिन्न प्रकार की माँगों की जाती थीं। इन माँगों में उनके कार्यों में सहयोग देकर पुण्य कर्मों में सहभागी होने की भी माँगें होती थीं। विदेशों से कई युवक-युवतियाँ कुछ

अवकाश लेकर उनके आश्रमों में कुछ समय पीड़ितों की सेवा करने के लिए आना चाहते हैं।

माँ के व्यक्तित्व के प्रभाव के समक्ष बड़े-बड़े धनवान लोग भी अपने-आपको अकिंचिन समझने लगते थे। माँ स्वयं को जन-जन से पृथक् नहीं देखतीं, वे मानव समाज की समष्टि में ही अपना अस्तित्व समझती थीं, अतः वे धनी, निर्धन, बालक, युवा एवं वृद्ध किसी से भी कोई कार्य कराने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करती थीं।

माँ के कर्मक्षेत्र में अवतरण के आरंभिक दो-तीन वर्षों की बात है। उस समय 'मिशनरीज ऑफ चैरिटीज' की बहनों की संख्या भी अधिक नहीं थी। सायंकाल माँ को पता चला कि उस दिन उनके पास एक पैसा भी न था। माँ ने सिस्टर क्लेयर को बुलाया और कहा, "सिस्टर! आज तो घर में खाने के लिए कुछ भी नहीं है और पास में एक पैसा भी नहीं। व्यवस्था न हो पाई, तो भूखे रहना पड़ेगा।"

सिस्टर क्लेयर की समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। वह यह भी नहीं समझ सकी कि माँ क्या कहना चाहती थीं। वह माँ के मुँह की ओर देखने लगीं, मानो पूछ रही हों, तो फिर क्या करना चाहिए। समस्या का समाधान सुझाती हुई माँ बोलीं, "देखो, डरने की क्या बात है। तालतला में गोआ के रहने वाले भद्र पुरुष के पास जाओ, जिसकी रोटी बनाने की फैक्ट्री है। उससे कहना, कदाचित् रोटी मिल जाए।"

यह सुनते ही बिना कुछ कहे सिस्टर क्लेयर निकल पड़ीं। तालतला 'मिशनरीज ऑफ चैरिटीज' के पास ही है। वह उक्त भद्र पुरुष डोमिनिक परेरा के पास पहुँची। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अपनी समस्या उनके सामने रख दी। परेरा ने सहर्ष दस पोण्ड रोटी सिस्टर क्लेयर को दे दी।

प्राचीन काल में संन्यासी इसी प्रकार भिक्षावृत्ति से अपनी उदर-पूर्ति करते थे। सर्वस्व त्यागी, संन्यासी, जिस किसी गृहस्थ के घर जाकर खड़े हो जाते, उन्हें कुछ नहीं कहना पड़ता। गृहस्थ स्वयं उन्हें सम्मान-सहित मधुकरी प्रदान कर देते।

बाद में जब माँ ने तालतला में आश्रय-विहीन बच्चों के लिए एक पाठशाला खोली, तो उक्त भद्र पुरुष ने अपनी फैक्ट्री का एक भाग इस कार्य के लिए दे दिया था।

संघर्ष, सेवा और निर्भीकता—  
संकटों में भी अविचलित—  
कर्म में विश्वास—

पावन उद्देश्य के लिए किसी से कुछ माँगने में किसी प्रकार का संकोच भाव नहीं।

माँ ने इन सिद्धांतों को सदा अपने सामने रखा। उन्होंने कार्यारंभ एक फकीर की तरह किया, पास में केवल पाँच सौ रुपये और उद्देश्य इतना बड़ा। भले ही उन्हें इस कार्य के आरंभ में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, किंतु इससे वह कभी विचलित नहीं हुईं, अर्थात् उनकी चाह को कठिनाइयाँ आने पर भी राह मिलती गई।

## आस्था और श्रद्धा

माँ टेरेसा विश्व की एक निरुपम विभूति थीं। वे न तो आत्म-प्रशंसा चाहती थीं, न किसी से माँगती थीं और न ही अपने कार्यों का प्रचार-प्रसार कराती थीं। उन्होंने अपने कार्यों के लिए कभी सरकार से किसी प्रकार की सहायता की माँग भी नहीं की। फिर भी उनके कार्यों का महत्त्व किसी से कैसे छिपा रह सकता था? क्योंकि सूर्य के उदय की सूचना उसके प्रकाश से स्वयं ही संपूर्ण विश्व को हो जाती है।

माँ को विश्व के अनेक पुरस्कारों से समय-समय पर सम्मानित किया गया। उनके कार्यों की तुलना में इन सम्मानों का महत्त्व नगण्य ही कहा जाएगा, फिर भी आस्था के प्रतीक इन सम्मानों से विश्व ने माँ के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की।

“कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला।”

हिंदी साहित्य के मूर्धन्य कवि तुलसीदास के विषय में कहे गए ये शब्द सार्थक हैं, अर्थात् कविता लिखने से तुलसी का महत्त्व नहीं बढ़ा, अपितु इस महान कवि की कला का संबल पाकर स्वयं कविता की शोभा बढ़ी।

इसी प्रकार हम माँ के विषय में कह सकते हैं कि इन सम्मानों से माँ की प्रतिष्ठा नहीं बढ़ी, अपितु इन सम्मानों की सार्थकता सिद्ध हुई। अन्य किसी व्यक्ति को सम्मान मिलने में भले ही वह कार्य आलोचना का विषय बने, किंतु माँ के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता।

माँ न तो किसी सम्मान की इच्छा रखती थीं और न ही उनकी कोई लौकिक इच्छा थी। वे तो केवल दरिद्र नारायण की सेवा को अपना धर्म समझती थीं। माँ का तो केवल यही कहना था—

“सब उनकी इच्छा है। ईश्वर पर मन-प्राण रखोगे, तो फिर कोई समस्या ही नहीं रहेगी। दुख, वेदना, व्यर्थता आएगी, आने दो। याद रखो, दुख ही आनंद लाता है और व्यर्थता ही सफलता लाती है। वेदना जीवन को मधुरतामय बना सकती है, जिसके जीवन का पात्र वेदना से लबालब भरा है, वही वेदना से पीड़ित मनुष्य का दुख दूर कर सकता है।”

माँ का जीवन दुखियों की सेवा के प्रति समर्पित था। उनकी इसी सेवा-भावना के कारण विश्व उनके समक्ष श्रद्धा से नत हो जाता था। सन् 1962 में भारत सरकार ने उन्हें पद्मश्री से सम्मानित किया। यह माँ का सम्मान न होकर उनके महान कार्यों के प्रति श्रद्धा की एक अभिव्यक्ति थी।

श्वेत साड़ी पहने हुए माँ ने राष्ट्रपति भवन में तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्र प्रसाद से यह सम्मान ग्रहण किया था। उस समय वहाँ उपस्थित लोगों ने तालियाँ बजाकर प्रसन्नता का परिचय दिया था। उस समय का वर्णन करते हुए श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित के उद्गार उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अपने उद्गार निम्न शब्दों में व्यक्त किए हैं—

“जब मानवता का मूर्त रूप साड़ी धारिणी वह संन्यासिनी मंच की ओर बढ़ी, तो राष्ट्रपति भवन के दरबार हाल में सन्नाटा छा गया। वह जिस उत्साह से किसी शिशु अथवा मरणासन्न व्यक्ति को गले लगा लेती हैं, इस प्रकार का उत्साह उन्होंने पुरस्कार ग्रहण करने के लिए हाथ आगे बढ़ाते समय नहीं दिखाया, फिर भी हाल में बैठे दर्शक आनंद से पागल हो गए। माँ टेरेसा को सर्वाधिक प्रशंसा मिली। महामहिम राष्ट्रपति की आँखें भी आनंद के अश्रुओं से गीली हो गईं। बाद में जब हम घर लौट रहे थे, तो मैंने अपने भाई जवाहरलाल नेहरू से पूछा, “क्या मदर टेरेसा वास्तव में एक झकझोर देने वाला व्यक्तित्व नहीं है?” इस पर वे बोले, “मैं कुछ नहीं कह सकता कि तुम्हें क्या अनुभूति हुई, किंतु मुझे अपने आँसू रोक पाने में बड़ी कठिनाई हुई।”

निश्चय ही महामहिम राष्ट्रपति और पं० जवाहरलाल नेहरू माँ के महिमाशाली व्यक्तित्व से अभिभूत हो गए थे। अकिंचन जैसी दिखाई देने

वाली माँ के प्रति उनकी श्रद्धा आँसुओं के रूप में अभिव्यक्त हो गई थी।

श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित के इन शब्दों से माँ की निष्काम कर्म करने की भावना का भी सुंदर वर्णन हुआ है। जो माँ निराश्रय तथा मरणासन्न रोगियों को बड़े उत्साह से आगे बढ़कर गले लगा लेती थीं, वही इस सम्मान को सर्वथा निर्लिप्त भाव से ग्रहण करने के लिए आगे बढ़ी थीं।

एक ऐसी संन्यासिनी को, जो दरिद्रों-दुखियों की सेवा को ही स्वधर्म समझती थीं, उन्हें इस प्रकार के मान-सम्मान आदि की क्या लालसा हो सकती थी? 25 मार्च, सन् 1963 के दिन माँ ने 'मिशनरीज ऑफ चैरिटीज' की एक नई शाखा 'मिशनरी ऑफ ब्रदर्स' की स्थापना की। इसी वर्ष उन्हें फिलीपींस सरकार का 'रैमन मैग्सेस अवार्ड' प्राप्त हुआ। इस पुरस्कार के प्राप्त होने पर माँ ने इसके साथ मिली धनराशि को निर्लिप्त भाव से दान कर दिया।

माँ को आगरा के एक मिशनरीज से कुछ ही दिन पूर्व एक पत्र प्राप्त हुआ था। मिशनरी आगरा में एक शिशु भवन बनवाना चाहते थे। इस पत्र में माँ से शिशु-भवन बनवाने के लिए पचास हजार रुपयों की माँग की गई थी। माँ के पास पैसा न होने के कारण अचानक प्राप्त इस सम्मान राशि के विषय में माँ ने कहा था, "लगता है भगवान आगरा में शिशु-भवन बनवाना चाहते हैं।"

और उन्होंने यह राशि उक्त कार्य के लिए दान कर दी।



सन् 1971 में गुरु ने शिष्या को सम्मानित किया। माँ टेरेसा को वेटिकन सिटी के 'जॉन जीन प्राइस' के लिए चुना गया।

इसी वर्ष माँ को दो अन्य पुरस्कार भी प्राप्त हुए, एक 'गुड सैमेरिटन अवार्ड' तथा दूसरा 'जॉन एफ. केनेडी अंतर्राष्ट्रीय अवार्ड'।

प्रचार-प्रसार एवं आत्म-प्रशंसा से दूर।

पीड़ितों की सेवा को ही ईश्वर की सेवा समझना।

प्रत्येक दुखी व्यक्ति में प्रभु के दर्शन करना।

यही सब उनके जीवन के मूल-मंत्र हैं। इन्हीं मंत्रों की साधना उनके जीवन का उद्देश्य है।

जिसके ऐसे उदारता से परिपूर्ण जीवन-उद्देश्य हों, उनके लिए मान-

सम्मान, पद-प्रतिष्ठा, प्रचार-प्रसार आदि का क्या महत्त्व रह जाता है? जो आनंद के सागर को, अमृत के उत्सव को प्राप्त कर ले, वह क्षणभंगुर संसार के सुखों में क्या आस्था रखेगा?

पीछे शांति नगर के प्रसंग में उल्लेख हो ही चुका है कि माँ ने कुष्ठ रोगियों के लिए किस प्रकार अपनी उदारता का परिचय दिया। सामान्य व्यक्ति जिन कुष्ठ रोगियों का स्पर्श करने से हिचकते हैं, माँ ने उनकी सेवा के लिए कितने महान कार्य किए। जब उन्हें 1964 में पोप षष्ठ पाल ने भारत से लौटते समय अपनी लिंकन गाड़ी भेंट की, तो माँ ने उस गाड़ी को भी कुष्ठ रोगियों के कल्याण के लिए दान कर दिया। उस गाड़ी की लाटरी निकाली गई और उससे प्राप्त सभी रुपये शांति नगर की स्थापना के लिए दे दिए गए।

सन् 1971 में माँ को पोप जॉन शांति पुरस्कार प्राप्त हुआ। इस पुरस्कार में प्राप्त साढ़े इक्कीस हजार डालर की धनराशि भी माँ ने इसी पुनीत कार्य में व्यय कर दी। क्या इस प्रकार की निर्लिप्तता की किसी मनुष्य से अपेक्षा की जा सकती है?

शिशु-भवन में माँ की ममता साकार रूप में सामने आती है। यहाँ कई शिशु ऐसे हैं, जिन्होंने यहीं आकर आँखें खोलीं, होश सँभाला और यहीं उन्हें अक्षर-बोध हुआ। यहीं उन्होंने घुटनों के बल चलना सीखा और फिर बड़े होकर अपने पाँवों पर खड़े हुए और अपनी गृहस्थी बसाई।

माँ गर्भस्थ शिशुओं की हत्या अथवा गर्भ समापन का भी समर्थन नहीं करती थीं, यद्यपि आज गर्भ समापन कानून की दृष्टि में वैध है, तथापि इस कार्य के विषय में सुनते ही माँ का हृदय चीत्कार कर उठता था, मानो वह गर्भस्थ शिशु कह रहा हो, “मैं सर्वथा निरीह और निर्दोष हूँ, फिर मुझे यह किस अपराध का दंड दिया जा रहा है? मुझसे मेरे जीवित रहने का अधिकार क्यों छीना जा रहा है?”

माँ इस समस्या के समाधान के लिए सर्वप्रथम आत्म-संयम को आवश्यक समझती थीं। अंततः उनका कथन था—

“I am fighting abortion with adoption”.

एक बार बड़े दिन की बात है। सभी लोग उत्सव मना रहे थे, किंतु शिशु-भवन का खजाना पूरी तरह खाली पड़ा था। उत्सव मनाने की कोई भी

संभावना न थी। सभी लोगों के चेहरे मुरझाए थे। उनकी चिंता का कारण ये बच्चे थे, जिन्हें जीवन में कोई सुख नहीं मिला था। क्या ये इस पावन दिन भी दुखी ही रह जाएँगे? सभी इसी चिंता में डूबे थे।

उसी समय एक सुंदर युवती शिशु-भवन पहुँची। भवन की बहनें उससे कुछ पूछतीं, इससे पहले ही वह स्वयं बोल उठी, “आज इस बड़े दिन के शुभ अवसर पर शिशु-भवन का समस्त व्यय मुझे वहन करने दें।”

इतना कहते हुए उन्होंने एक हजार रुपये बहनों के हाथ पर रख दिए।

क्या इस प्रकार की घटनाओं को केवल एक संयोग कहेंगे? या यह कि इनके पीछे कोई दैवीय प्रेरणा कार्य करती है?

अनेक संपन्न परिवारों के लोग बड़े दिन के शुभ अवसर पर होटलों अथवा क्लबों में न जाकर माँ द्वारा स्थापित इन संस्थाओं में जाना सार्थक समझते हैं।

माँ को अपने शरीर की कभी चिंता नहीं रहती थी। दूसरों का दुख उनसे देखा नहीं जाता था। अपने कार्य के आरंभ के दिनों में एक रात्रि वह भीगी हुई घर पहुँचीं। उन दिनों वह माइकल गोमेज के घर पर रहती थीं। उन्हें इस दशा में देखकर माइकल गोमेज की पत्नी बोलीं, “आप सब लोग तो भीग गए हैं।”

तभी माँ बोलीं, “मैं बस्ती में जो दृश्य देखकर आई हूँ, उसके सामने हमारा भीगना कुछ भी नहीं है।”

माँ ने जो दृश्य देखा था, उसके विषय में ज्ञात हुआ कि महिला अपने बच्चे के साथ किराए के छप्पर तले रहती थी। वह दो महीने का किराया नहीं दे पाई, तो छप्पर के स्वामी ने उस छत को तुड़वा दिया। उस महिला का बच्चा बुखार से तप रहा था। बुखार से तपते हुए बच्चे को गोद में लेकर महिला उसके सिर पर एक बर्तन छाते की तरह रखकर उसे भीगने से बचाने का असफल प्रयास कर रही थी। इस घटना के दौरान माँ का हृदय चीत्कार कर उठा था। माँ उसी समय बस्ती में गईं और उस महिला को अपने निवास स्थान पर ले आईं।

पर दुख कातर माँ अपने शरीर की कोई चिंता नहीं करती थीं। अपने शरीर की उन्हें कोई परवाह नहीं थी। अपने कार्यकाल के प्रारंभिक दिनों में जब वे थककर चूर हो जाती थीं, तो उनकी सहयोगी बहनें उन्हें बाध्य करके सुलाती थीं।

एक बार उनका शरीर बहुत दुर्बल हो गया था। इससे बहनें बड़ी चिंतित हो गई थीं, किंतु माँ फिर भी आराम करने के लिए सहमत न थीं, तब बहनों ने उन्हें नर्सिंग होम में भर्ती होने के लिए बाध्य किया।

माँ की इसी सेवा-भावना का आदर्श अपने सामने रखकर उनकी सहयोगी बहनें भी अपने कष्टों को सहती हुई भी सदा हँसती रहती थीं। उनका यही कहना होता है कि जब हम किसी रोगी की सेवा करती हैं, तो हमें लगता है कि हम भगवान की सेवा कर रही हैं। जब हम किसी मरणासन्न रोगी को अपने हाथों से खाना खिलाती हैं, तो हमें लगता है कि हम यह खाना प्रभु को खिला रही हैं।”

एक बार एक मरणासन्न व्यक्ति कूड़े के ढेर में पड़ा था। माँ उसे वहाँ से निकालने का प्रयत्न कर रही थीं। बदबू-भरे कूड़े के ढेर से उसे निकाल पाना माँ के लिए संभव नहीं हो पा रहा था, तभी एक युवक जो कोलकाता विश्वविद्यालय में एम.ए. का विद्यार्थी था, वहाँ से गुजरा। माँ ने उस युवक से इस कार्य में सहायता करने का अनुरोध किया।

सामान्य व्यक्तियों की तरह वह युवक भी ऐसे कार्य की कल्पना नहीं कर सकता था। उसने माँ के मुख की ओर देखा, किंतु न जाने माँ के मुख की क्या विशेषता थी कि वह स्वयं ही आगे बढ़ गया और माँ के कार्य में हाथ बँटाने लगा। एंबुलेंस बुलाई गई। वह माँ के साथ उस रोगी को लेकर मुमूर्षु आश्रम गया। उसने रोगी के उपचार में भी हाथ बँटाया। उसे यह सब एक अलौकिक जगत के कार्य जैसा लगा।

अपनी इन्हीं सब महानताओं के कारण माँ श्रद्धा की पात्र बन गई थीं। कार्य के आरंभ से दो वर्षों के भीतर ही उन्होंने अपने कार्यों का जो विस्तार किया, ऐसा कार्य सभी प्रकार के साधन प्राप्त होने पर भी संभव नहीं होता।

नीले किनारे की सफ़ेद धोती, प्रायः 5 फिट की ऊँचाई, केवल शरीर का रंग छोड़कर और सब भारतीय। यही तो बाह्य रूप था माँ का, किंतु उनके हृदय की थाह कौन ले सकता था। माँ अपने समस्त कार्यों को यीशु के प्रति समर्पित मानती थीं। उन्होंने धर्म की सभी कट्टरताओं से मुक्ति पा ली थी और एक नए धर्म को अपना आदर्श बना लिया था। यह धर्म था—दीन-दुखियों, दरिद्रों, निराश्रितों असहायों और अबलाओं की सेवा करना। इसी धर्म के पालन में उन्हें असीम संतोष प्राप्त होता था।

भारत आने पर माँ पहले दार्जिलिंग भेज दी गई। वहाँ उन्होंने लोरेटो कनवेंट में अध्यापन किया, किंतु शीघ्र ही उन्हें कोलकाता आना पड़ा।

इण्टाली के इस लोरेटो कानवेंट की अधिकतर छात्राएँ, निराश्रित, परित्यक्ताएँ आदि ही हैं। इनमें प्रत्येक धर्म एवं संप्रदाय की छात्राएँ हैं।

सेंट मेरी स्कूल संभ्रांत वर्ग की बालिकाओं के लिए है। जिस समय माँ इस स्कूल में अध्यापिका बनकर आई, वह मेरी टेरेसा थीं, माँ टेरेसा नहीं बनी थीं।

कुछ काल-पर्यंत अध्यापिका रहने के बाद माँ इस स्कूल की अध्यक्षा भी रहीं।

इस संस्था से वह सन् 1929 से 1948 तक संबद्ध रहीं। इसके बाद माँ ने शिक्षिका जीवन से मुक्ति ले ली और दरिद्र नारायण की सेवा के लिए कार्य-क्षेत्र में उतर पड़ीं।

सन् 1946 में दार्जिलिंग जाते समय माँ को ईश्वरीय आदर्श की प्राप्ति हुई, अतः उनका दरिद्रों की सेवा करने का निर्णय जीवन का एक महान निर्णय था।

अपने इस निर्णय के विषय में उन्होंने कोलकाता के आर्क बिशप को अवगत कराया और उनसे दरिद्र नारायण की सेवा के लिए कार्य करने की अनुमति माँगी। इस अनुमति के मिल जाने पर रोम से भी अनुमति लेना आवश्यक था। संन्यासिनों को यह अनुमति रोम के लोरेटो की संन्यासिनों की मदर जनरल देती हैं। माँ ने दरिद्रों की सेवा का व्रत लिया था, अतः उन्हें यह अनुमति सर्वोच्च धर्माधिकारी, धर्मगुरु पोप से लेनी पड़ी। उस समय पोप पाल द्वादश इस पद पर आसीन थे। माँ ने समस्त विवरण पोप को लिख भेजा।

पोप की अनुमति भी शीघ्र ही 12 अप्रैल, 1948 को प्राप्त हो गई। पोप ने उन्हें इस कार्य के लिए अनुमति देते हुए लिखा था कि वह कोलकाता के आर्क बिशप के अधीन रहकर कार्य करें।

बस पोप की अनुमति प्राप्त होते ही माँ ने अपने पूर्व जीवन से मुक्ति पा ली। यहाँ से पहले वह पटना पहुँचीं, जहाँ उन्होंने अमेरिकन मिशनरी की नर्सों से नर्सिंग का प्रशिक्षण प्राप्त किया। इसके बाद वह पुनः कोलकाता लौट आईं।

सर्वस्व त्यागी माँ ने कोलकाता में करतल भिक्षा तरुतल वास का सिद्धांत

अपनाया और दुखियों की सेवा का कार्य आरंभ कर दिया। पहले वह नितांत अकेली कर्मक्षेत्र में उतरीं, फिर सहयोगिनें मिलीं, जो स्वयं माँ के ही समान सर्वत्यागी थीं। धीरे-धीरे माँ की ममता से प्रभावित होकर लोगों ने उनकी महत्ता को स्वीकार किया। आज भारत के अनेक नगरों सहित विश्व के अनेक देशों में माँ द्वारा स्थापित संस्थाएँ पीड़ितों, असहायों की सेवा कर रही हैं।

इस अद्भुत संन्यासिनी की ममता आज अनेक रूपों में पल्लवित होकर विश्व-भर में मानवता का प्रकाश बिखेर रही है।

ऐसा कठोर व्रत लेते समय माँ की अवस्था केवल पैंतीस वर्ष थी। जीवन के ऐसे निर्णायक कदम उठाने के लिए इसे कोई अधिक या उचित अवस्था नहीं कहा जा सकता।

माँ दरिद्रों की सेवा का संकल्प ले चुकी थीं, जिसके लिए उन्हें कोलकाता के आर्क बिशप के साथ ही सर्वोच्च धर्माधिकारी पोप की भी अनुमति मिल गई थी।

कदाचित् माँ की कम अवस्था को देखते हुए अथवा फिर इतना बड़ा निर्णय और इस मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को देख पोप ने यह भी समझा होगा कि संभवतः माँ टेरेसा कुछ काल बाद अपना निर्णय वापस ले लें या कठिनाइयों से विचलित होने अथवा किन्हीं अन्य कारणों से उन्हें इस कार्य में असफलता ही हाथ लगे। अतः पोप ने अनुमति तो दे दी, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि यदि वे अपने कार्य में असफल रहें, तो पुनः लोरेटो लौट आँ।

पोप की यह आशंका निर्मूल सिद्ध हुई। माँ को ईश्वरीय आदेश प्राप्त हुआ था। वे दृढ़ निश्चय कर चुकी थीं।

उनकी अवस्था कम थी।

वे शरीर से अधिक हृष्ट-पुष्ट नहीं थी, किंतु उनका आत्मबल इच्छा-शक्ति और दृढ़ निश्चय हिमालय से भी ऊँचे थे।

इसीलिए अनेक कठिनाइयाँ आने पर भी माँ अपने मार्ग से विचलित नहीं हुई या यूँ कहा जा सकता है कि कठिनाइयाँ और बाधाएँ माँ की अदम्य संकल्प-शक्ति से पराजित हो गईं। माँ ने धर्माधिकारियों की आशंका का कोई उत्तर नहीं दिया। वे चल पड़ीं—अपने महानतम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए। समय आया, माँ सेवा-धर्म के शिखर पर जा पहुँचीं। उन्होंने किसी से कुछ

नहीं कहा, किंतु उनके मानवतापूर्ण कार्यों ने उनकी महानता का परिचय स्वयं दे दिया। माँ अनेक मानवीय गुणों की प्रतीक बन गईं।

इस प्रकार की दिव्य अनुभूति केवल स्वच्छ-निष्कलुष आत्माओं को ही होती है। जिस समय इस दिव्य अनुभूति के कारण माँ ने अध्यापकीय जीवन से अवकाश ले लेने का निर्णय लिया और उन्हें रोम से भी अनुमति मिल गई, तो उन्हें अपना आदर्श समझने वाली छात्राओं को अत्यंत दुख हुआ। इन्हीं छात्राओं में से एक सुभाषिणी दास थीं, जो कालांतर में माँ की प्रमुख सहयोगी सिस्टर अग्नेस बनीं। सुभाषिणी दास को माँ के त्यागपत्र देने के विषय में ज्ञात हुआ। यह सूचना उन्हें फादर हेनरी ने दी। उन्होंने कहा, “मेरी टेरेसा को रोम से विशेष अनुमति मिल गई है। ईश्वर के आवाहन पर उन्हें स्वयं को ईश्वर की सेवा के प्रति समर्पित करना होगा।”

“आखिर उन्हें ही ईश्वरीय आदेश क्यों प्राप्त हुआ? और संन्यासिनियाँ भी तो हैं!” छात्राओं ने पूछा। “किसी को इस मार्ग पर बलपूर्वक नहीं लगाया जा सकता। यह तो भगवान का आवाहन है, आवाहन पर जाना ही होगा। भगवान का आदेश मिले बिना इस कार्य के लिए तत्पर होना, इस मार्ग पर उतरना संभव नहीं है।”

वस्तुतः फादर हेनरी के ये शब्द अक्षरशः सत्य हैं। बिना ईश्वरीय आदेश के इस कठिनतम मार्ग का वरण करना कठिन है। बिना ईश्वरीय अनुभूति के इस मार्ग पर उतरने की कोई कल्पना भी नहीं कर सकता।

ईश्वर ने माँ टेरेसा को ही दरिद्रों की सेवा के योग्य समझा, इसीलिए उन्हें यह दैवीय आदेश प्राप्त हुआ।

इसके बाद आरंभ हुआ माँ का कर्मक्षेत्र। एक बहुत बड़ी साधना का प्रारंभ। ऐसी साधना, जिसकी सामान्य मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकते। माँ अपनी इस साधना में सफल रहीं। उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई। साधना में कठिनाइयाँ तो आती ही हैं। सिद्धि सदा विघ्नों से आच्छादित रहती है। माँ की इस साधना के परिणामस्वरूप आज अनेक अनाथ, दुखी, पीड़ित आदि एक नया जीवन जी रहे हैं।

माँ के हृदय की विशालता तथा उनकी भावी उन्नति का परिचय उनके बाल्य-जीवन पर दृष्टि डालते ही मिलने लगता है। पिता की मृत्यु और विश्वयुद्ध की विभीषिका का बालिका अग्नेस गोनाक्सा बजाक्सिउ के मन पर

गहरा प्रभाव पड़ा। इसके बाद अपने विद्यार्थी जीवन में वह आयरलैंड के लोरेटो मठ में संन्यासिनियों के संपर्क में आई। उनके स्कूल के 'प्रीस्ट' विद्यार्थियों को उपासना इत्यादि के विषय में बताते थे। यहाँ उन्हें पहली बार ज्ञात हुआ कि दुखियों-पीड़ितों की सेवा ही जीवन का सबसे बड़ा कार्य है।

मिशनरीज द्वारा भेजे गए भारत विषयक वर्णनों से उन्हें भारत में सेवा-कार्य करने की इच्छा हुई और वह बंगाल मिशन में जाने के लिए तत्पर हो गईं। सन् 1929 में माँ को भारत भेजा गया।

1931 ई० में माँ ने सेवा-धर्म का संकल्प लिया और 1937 में इस संकल्प को अंतिम रूप दिया। यद्यपि प्रारंभ में संन्यासिनी बनने की माँ की कोई इच्छा न थी, किंतु किशोरावस्था व्यतीत होते ही उन्हें अनुभव हुआ कि यही जीवन उनके लिए अभीष्ट रहेगा। भारत आने पर वे कोलकाता के इण्टाली स्थित सेंट मेरी हाई स्कूल में अध्यापिका बनीं। इसके साथ ही वे लोरेटो स्कूल से भी संबद्ध रहीं। यहीं उन्होंने पहले बंगला सीखी और फिर बंगला विभाग से संबद्ध रहीं।

सन् 1946 ई० में दार्जिलिंग जाते समय उन्हें अंतःकरण में ईश्वरीय आदेश की अनुभूति हुई। उन्हें लगा कि ईश्वर उनसे कह रहा है, "यह तुम कहाँ उलझ गई हो? यह तुम्हारा मार्ग नहीं। मेरा अनुसरण करो, मेरी सेवा करो। प्रत्येक बस्ती में जाओ, वहीं हर दुखी की, पीड़ित की, दरिद्र की सेवा करो। इसी से तुम मेरी सेवा कर सकोगी।"

यही अनुभूति माँ के जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इसी ने कालांतर में उन्हें 'माँ टेरेसा' बना दिया।

इस घटना के बाद माँ टेरेसा ने अपने अध्यापकीय जीवन से विदा ले ली। वे कर्म-क्षेत्र में उतर पड़ीं। यहाँ से पहले वह नर्सिंग का प्रशिक्षण लेने पटना गईं, क्योंकि दुखियों की सेवा के लिए सर्वप्रथम यही ज्ञान आवश्यक था। पटना से प्रशिक्षण लेकर वह पुनः कोलकाता लौट आईं। इस समय उनकी अवस्था एक ऐसे साधक के सामन थी, जिसके पास कुछ भी नहीं होता, सर्वथा धरती का बिछौना और ऊपर नीले अंबर की छत। पल्ले में कुछ भी न होने पर भी माँ असाध्य की साधना में तत्पर हो गईं।

फिर न जाने उन्हें कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता, इसे माँ के अतिरिक्त कोई भी नहीं जानता और न ही वह अपनी कठिनाइयों के विषय में

कुछ भी बताती थीं। हाँ, जिन्होंने उन्हें निकट से कार्य करते हुए देखा है, उन्हें इन कठिनाइयों का कुछ ज्ञान हो सकता है। फिर भी किसी को कठिनाइयों को देखने मात्र से उसकी अनुभूति नहीं की जा सकती।

माँ को इन कठिनाइयों का सामना करने पर सदा उन्हें उनमें प्रभु के दर्शन हुए और ईश्वरीय प्रेरणा याद रही।

प्रारंभ में माइकल गोमेज के घर आवास पाना, दीन-दुखियों की सेवा के लिए निकल पड़ना, निराश्रय, विकलांग बच्चों को गले लगाना, मरणासन्न व्यक्तियों के लिए मुमूर्षु आश्रम, निर्मल हृदय की स्थापना, अनाथ, परित्यक्त बच्चों के लिए निर्मल शिशु-भवन इत्यादि माँ की इसी अथक साधना के परिणाम हैं।

माँ की ईश्वर पर अगाध आस्था थी। वह क्षुद्र स्वार्थों के लिए कल की चिंता नहीं किया करती थीं। अपने कार्यों को आगे बढ़ाने के लिए उन्होंने कठोर परिश्रम किया। उनके पास कुछ भी न था। खाने की व्यवस्था न थी। तब माँ स्वयं हाथ में डिब्बा आदि लेकर मधुकरी के लिए निकल पड़तीं और घर-घर जाकर कहतीं, “आपके घर में यदि खाना बच जाए, तो उसे फेंकें नहीं, इस डिब्बे में डाल दें।”

माँ को ऐसा करते देख उनकी सहयोगी बहनें भी खाना माँगने के लिए जाने लगीं। वे सभी प्रत्येक घर से बचा हुआ खाना माँग लातीं और इस प्रकार एकत्रित हुआ खाना असहाय, भूखों का पेट भरने के काम आता।

अन्नदान परम दान है। जहाँ कुछ लोग घरों में बचा हुआ खाना फेंक देते हैं, वहीं कुछ लोग भूख से मर जाते हैं। देश के महानगरों में जहाँ एक ओर अभिजात्य वर्ग की संपन्नता है, वहीं दूसरी ओर अनेक ऐसे लोग हैं, जिन्हें दो समय का खाना भी बड़ी कठिनाइयों से मिलता है। प्रायः भूख के कारण लोग दम तोड़ते रहते हैं।

कोलकाता के रेलवे प्लेटफार्मों पर अनेक क्षुधाकुल मानव भूख के कारण सूखे पेटों पर अपने घुटनों को चिपकाए लेटे रहते हैं। ऐसे स्थानों पर जाने पर माँ यात्रियों के पास जाकर अनुरोध करती थीं, “कृपया यदि आपके पास भोजन बच जाए, तो उसे फेंकें नहीं। दया कर उसे मुझे दे दें। मैं ले जाऊँगी।”

यह था माँ की दया का एक अन्य रूप, उनके विशाल हृदय का एक अन्य रूप।

व्यक्ति फटे चीथड़ों में फुटपाथों पर रह सकता है, किंतु खाने की आवश्यकता सभी को होती है। भूखे पेट कब तक रहा जा सकता है? अन्न को इस तरह फेंक देना कहाँ की मानवता है? यही अन्न किसी भूखे का पेट भर सकता है।

परोपकार के लिए अपना सर्वस्व त्याग और अनाथों की भूख मिटाने के लिए हाथ फैलाने में संकोच नहीं। ये दो गुण माँ की दो अनन्यतम चारित्रिक विशेषताएँ थीं।

एक ओर समाज का अभिजात्य वर्ग है, दूसरी ओर निरंतर क्षुधा-पीड़ित दरिद्रतम लोग। कदाचित् इसी विषमता ने माँ को दरिद्रों की सेवा के लिए प्रेरित किया। कोलकाता के अपने अध्यापकीय जीवन में माँ पास की निर्धन बस्तियों में यदा-कदा जाती रहती थीं। वहीं उन्हें सर्वप्रथम भूख से पीड़ित दरिद्रों की दशा को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। अतः उन्होंने संपन्न घरों की छात्राओं को अपने स्कूल का भोजन सप्ताह में एक बार उस बस्ती के बच्चों को देने के लिए प्रेरित किया।

माँ का हृदय फूल से भी कोमल था। दरिद्रों, पीड़ितों, असहायों और निराश्रितों के लिए उनकी इच्छा-शक्ति कठोरतम थी। प्रत्येक कार्य में कोमलता एक दुर्बलता ही कही जाएगी। हृदय कोमल तथा कठोर संकल्प-शक्ति ही माँ की सफलता का एक रहस्य था।

मानव साधन मात्र है। समस्त चराचर के लौकिक व्यवहारों का कर्ता ईश्वर है, माँ की यही दृढ़ मान्यता थी। इस विषय में उनका कहना था, “मैं कार्य करती हूँ, यदि मैं ऐसा मान लूँ तो मेरे जीवन का अंत हो जाने पर, मेरी मृत्यु के बाद, मेरे कार्य समाप्त हो जाएँगे। ऐसा मानने पर स्वाभाविक रूप से यही परिणाम होगा। भगवान ही हमसे सब-कुछ करा लेते हैं, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। यही कारण है कि हमारे ‘पंचतत्त्वों में मिल जाने पर भी कर्म का कभी नाश नहीं होता। भगवान स्वयं किसी से कार्य करा लेंगे।”

माँ अजातशत्रु थीं। सभी को वे अपना मित्र समझती थीं। मनुष्य शत्रु या मित्र के रूप में अपने विचारों का ही प्रतिबिंब देखता है। इस विषय में एक कहानी याद आती है—एक बार एक कुत्ता एक ऐसे भवन में प्रविष्ट हो गया, जिसकी सभी दीवारों, छत और फर्श में भी शीशे-ही-शीशे लगे हुए थे। उस भवन में जाकर कुत्ते ने अपने प्रतिबिंब देखे, वह जिधर देखता उसे कुत्ता ही

दिखाई देता। भला पशु को क्या ज्ञान कि वह अपना ही प्रतिबिंब देख रहा है ? वह गुर्गने लगा। उधर से उसका प्रतिबिंब भी गुर्गया, बस उसने उसे अपना शत्रु समझ लिया और झपट पड़ा। वह जिधर देखता उधर ही झपट पड़ता। प्रत्युत्तर में उधर से उसका प्रतिबिंब भी उस पर झपटता, इस प्रकार दिन-भर लड़ता-झपटता वह लहलुहान हो गया।

दूसरे दिन एक दूसरा कुत्ता उस भवन में आया। उसने जैसे ही अपनी परछाई देखी, उसे बड़ी प्रसन्नता हुई कि चलो एक मित्र मिल गया। उसने प्यार से कूँ-कूँ करते हुए अपनी पूँछ हिलाई, तो प्रतिबिंब ने भी ऐसा ही उत्तर दिया। वह समझ गया कि सामने वाला कुत्ता भी उसके साथ मित्रता करना चाहता है। बस, वह बड़े आराम से दिन-भर वहाँ खेलता रहा।

इस कहानी से स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी प्राणी स्वयं दूसरों को अपना शत्रु या मित्र समझ बैठता है। अर्थात् मन ही मित्रता या शत्रुता का कारण है।

इसी प्रकार माँ के जीवन को देखें, तो लगता है कि उन्होंने सदैव अपकार का बदला भी उपकार से दिया है। कालीघाट के काली मंदिर के पास की धर्मशाला में माँ ने 'निर्मल हृदय', 'मुमूर्षु आश्रम' की स्थापना की। उनके इस कार्य से काली मंदिर के पुजारी विरोध पर उतर आए। माँ के स्वयं सम्मुख जाने पर वे नर्म पड़े। कालांतर में एक पुजारी को तपेदिक हो गई, उस उपेक्षित पुजारी की माँ ने निश्छल हृदय से सेवा की और उसे शांतिपूर्ण मृत्यु प्राप्त हुई। तब उस मंदिर के पुजारी ने ही माँ से कहा था कि, "मैं विगत तीस वर्षों से माँ काली की पूजा कर रहा हूँ। आज मैंने आपमें माँ काली के साक्षात् दर्शन कर लिये। मेरा जीवन धन्य हो गया।"

दुखी-असहाय लोगों की पीड़ा देखकर माँ अत्यंत दुखी हो जाती थीं। उनका कहना था कि, जहाँ साधारण मनुष्य एक समय खाना न मिलने पर विकल हो जाता है, वहीं हमारे ही समाज में कई लोग ऐसे हैं, जिन्हें कई दिन तक भोजन नहीं मिल पाता, या नाम मात्र के लिए ही मिलता है। समर्थ लोग ऐसे लोगों को भोजन देना तो दूर की बात, दुत्कार देते हैं। हम एक दिन या दिन में एक बार भी निराहार रहते हैं, तो हमें कष्टों की अनुभूति होती है। जो लोग कई दिनों तक भूखे या अधभूखे रहते हैं, उनके मुँह में दो मुट्ठी अन्न देना तो दूर की बात, जो बिना कुछ व्यय किए संभव है, वह मौखिक सहानुभूति भी क्या हम उन्हें दे पाते हैं?"

माँ का कथन था कि—“सब कुछ ईश्वर को समर्पित कर दो। तब कोई समस्या ही नहीं रहेगी। दुखों की अनुभूति हो जाने पर ही मनुष्य को सुख का अनुभव हो सकता है। एक मनुष्य जिसने कभी दुख देखा ही नहीं, कभी किसी के दुख को नहीं समझ सकता।”

माँ स्पष्ट कहती थीं—“भूख की समस्या का समग्र रूप से समाधान कोई एक व्यक्ति नहीं कर सकता, फिर भी हमें अपना कर्तव्य करना ही चाहिए।”

गीता में भगवान कृष्ण अर्जुन को कर्म-बोध कराते हुए कहते हैं—“तुम्हारा अधिकार कर्म करने में है, फल में नहीं। अनासक्त होकर धर्म करो।”

दया, प्रेम उदारता आदि मानवीय गुण हैं। ये गुण हैं ही इसलिए कि मनुष्य इनका पालन करें। इनके अस्तित्व की सार्थकता इसमें नहीं है कि यह केवल शब्दकोश की शोभा बढ़ाएँ या केवल इनका उच्चारण भर किया जाए। इसीलिए माँ ने कहा था—“हमारा कार्य सागर में जल की बूँद डालने के समान है। सभी भूखों के मुँह में हम अन्न नहीं दे पाएँगे और न ही समस्त रोगियों की सेवा ही संभव है, फिर भी अर्थ यह नहीं है कि हम सेवा, दान, प्रेम आदि को छींके पर टाँग दें। मार्ग में चलते हुए हमारे सामने यदि कोई भूखा आकर खड़ा हो जाए, तो उसे देखना ही धर्म है। उसकी भूख दूर करने के लिए आगे बढ़ना मनुष्य से एक मानवीय अपेक्षा है।”

संख्या भले ही हजार, लाख या करोड़ कितनी ही क्यों न हो, हर मनुष्य यदि प्रतिदिन एक अच्छा कार्य करे, तो कदाचित् कोई समस्या ही न रहे।”

सिद्धांत रूप में सभी ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की बात करते हैं, किंतु व्यवहार में कोई भी माँ टेरेसा की समानता नहीं कर सकता। अपनत्व और स्नेह-भावना का अभाव माँ की दृष्टि में एक भीषणतम सामाजिक अपराध है। माँ ने कहा था—“25 वर्षों से अधिक समय में मैं अनेक लोगों से मिली हूँ। अनेक बातें देखी-सुनी हैं। जिसे कोई नहीं चाहता, जिसका कोई अपना नहीं, ऐसे व्यक्ति के लिए यदि कोई आगे नहीं बढ़ता, तो यह समाज का सबसे बड़ा रोग है। उस रोग को दूर करने की एक मात्र औषधि प्रेम है।”

जिन शिशुओं को हमारा समाज अवैध मानकर त्याग देता है, उन्हें माँ गले लगा लेती थीं। ऐसे निराश्रित शिशुओं को उनकी ममता से एक नया जीवन प्राप्त होता था। माँ की दृष्टि में ये शिशु सर्वथा निरीह, निष्पाप, निष्कलुष होते हैं। वे जीवन-मात्र को पवित्र समझती थीं, तथा यथाशक्ति उसे सुंदर बनना

अपना कर्तव्य समझती थीं। दुखी लोग पश्चिमी जगत में भी हैं। वहाँ निर्धनता नहीं है, फिर भी लोग दुखी रहते हैं, क्योंकि वहाँ अपनत्व-ममता का अभाव है। माँ इसे भी एक प्रकार की दरिद्रता का ही नाम देती थीं। उनका कथन था—

“गरीब सभी जगह हैं, यहीं नहीं। हाँ, समस्या का अंतर है। यहाँ लोग भोजन के कारण भूखे हैं। पश्चिम में इस तरह की आवश्यकता कम है। वहाँ के लोग मानव के साथ प्यार और अंतरंगता के लिए भूखे हैं। वहाँ अकेलापन अभिशाप है। हमारा अभाव भौतिक है, आप लोगों का मानसिक। इन दोनों दरिद्रताओं का स्वरूप भिन्न है, किंतु दोनों की समस्याएँ एक समान ज्वलंत हैं। यही नहीं, उनका समाधान अत्यंत कठिन है। यहाँ कोई भूखा है, उसके सामने एक थाली में भोजन रख देने से समस्या का समाधान हो जाएगा, किंतु उन देशों के लोगों की भूख मानवीय प्रेम के अभाव से उत्पन्न है। इनके लिए क्या एक थाली भर भोजन रखने के समान थाली भर प्यार रखा जा सकता है? हृदय की ओर से जो भूखे हैं, उनकी भूख मिटाना कठिन है।”

माँ पूरी तरह सहज, सरल और बंधनहीन हो जाना ही मानव जीवन की सार्थकता समझती थीं। ‘निर्मल हृदय’ के रोगियों में वह इन गुणों का सद्भाव देखती थीं। इसे विपन्न भारतीयों की एक बहुत बड़ी महानता की संज्ञा देते हुए माँ ने कहा था—

“हमारे देश के इन रोगियों को देखो, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अभावग्रस्त रहने पर भी इन्हें कोई शिकायत नहीं है। अन्न नहीं, वस्त्र नहीं, किंतु इसके लिए किसी प्रकार का दुख नहीं। इन्होंने भाग्य को ही सर्वस्व मान लिया है, मानो यही इनकी अपरिहार्य नियति हो, किंतु ऐसा नहीं, यह इनकी असाधारण सहनशीलता है और इसी में इनकी महानता है। पश्चिमी देशों में इनका बड़ा अभाव है। उनमें संतोष का अभाव है, अतः दुख की वेदना बड़ी तीव्र होती है। वे हमारी तरह सरलता से नहीं मान सकते, अतएव उन लोगों को शांति प्राप्त नहीं होती, किंतु भारत में अकिंचन लोगों के समक्ष एक थाली चावल रख देने से ही समस्या का समाधान हो जाता है। समस्त अभावों से क्षण भर में मुक्ति मिल जाती है... कैसा महान है ये जीवन! इन साधारण दिखाई देने वाले लोगों में कैसी असाधारणता छिपी हुई है। मुझे स्वयं यह नहीं लगता कि मैं इन लोगों की तरह सरल और सहज हो पाऊँगी। प्रतिवादहीन, अभियोगहीन और बंधनहीन हो सकूँगी।”

दरिद्रों से माँ को असीम प्रेम था, चाहे वह भौतिक रूप से दरिद्र हों या फिर प्रेम, स्नेह, ममता, अपनत्व से। माँ का समस्त जीवन दरिद्रता को दूर करने के लिए समर्पित था। जो कुछ मिला, सभी कुछ दुखी-दरिद्रों को समर्पित कर दिया। अपने पास कुछ भी न रखा, ममता, प्रेम, दया, सहनुभूति, सेवा-भावना और कर्तव्य-परायणता के अतिरिक्त। इसी में माँ को अपार आनंद की प्राप्ति होती थी।

महापुरुषों का जीवन परोपकार के प्रति समर्पित होता है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है, माँ टेरेसा का जीवन।

जन्म से माँ यूगोस्लाविया की थीं, किंतु कर्म से भारतीय। उन्होंने अपने कर्मक्षेत्र के लिए भारत को चुना। यद्यपि समस्त विश्व उनकी कर्मस्थली था, तथापि इन समस्त कार्यों का केंद्र-बिंदु 'माँ' को भारत ही सर्वाधिक प्रिय था, इसलिए उन्होंने आहार-व्यवहार, रहन-सहन के साथ ही भारतीय नागरिकता भी ग्रहण कर ली थी।

माँ एक व्यक्ति नहीं, अपितु ममता, प्रेम, दया, सहानुभूति, उदारता तथा सेवा आदि मानवीय गुणों का मूर्त रूप थीं। वे सच्चे अर्थों में एक संन्यासिनी थीं। वे दुखियों की सेवा में ईश्वर को देखती थीं। उनका सर्वस्व पीड़ितों की सेवा के लिए समर्पित था।

साधन का सर्वथा अभाव होने पर भी वह पीड़ितों की सेवा का संकल्प लेकर कर्मक्षेत्र में उमड़ पड़ी। ईश्वर के प्रति अपनी अनन्य आस्था तथा अदम्य संकल्प-शक्ति के परिणामस्वरूप वह निरंतर साधना में लगी रहीं। इतना सब-कुछ होने पर माँ नितांत सरल, सहज, निश्छल और सौम्य थीं, क्यों तीव्र रूप से जलते हुए पर्वतों को शांत कर, पृथ्वी को शस्य-श्यामला बनाकर, नदी-नालों को जलपूर्ण कर, मेघ, शरद ऋतु आने पर जलहीन और शुभ्रवर्ण हो जाते हैं। यही उनकी साधकता हो सकती है।

• • • • •

## माँ दिल में आज भी है श्रद्धांजलि

5 सितंबर, 1997 को रात 9:30 बजे माँ ने आखिरी साँस ली और एक महामानवीय आत्मा हमारे बीच से उठ गई सदा-सदा के लिए।

दुनिया भर में करोड़ों गरीबों, बेसहारा और दुखियारों की उम्मीद की किरण 'मदर टेरेसा' के निधन से समूचे विश्व में शोक की लहर दौड़ गई। नोबेल पुरस्कार से सम्मानित मदर ने 87 साल की उम्र में कोलकाता में आखिरी साँस ली।

संयुक्त राष्ट्र महासचिव कोफी अन्नान ने मदर को परोपकार, सेवा और आध्यात्मिक साहस की मिसाल बताया। श्री अन्नान ने कहा कि वह प्रेम और उम्मीद की प्रतीक थीं। पोप जॉन पाल द्वितीय, अमेरिका के राष्ट्रपति बिल क्लिंटन और विश्व के अनेक नेताओं ने उन्हें और गरीबों के लिए उनकी प्रतिबद्धता को सराहा। श्री क्लिंटन ने अपने शोक संदेश में कहा, "उन्होंने गरीबों, पीड़ितों और मरणासन्न व्यक्तियों की सेवा की। हम सबके लिए वह प्रेरणा स्रोत थीं।"

पोप जॉन पाल ने वेटिकन सिटी में कहा, "मदर के निधन की खबर से उन्हें गहरा दुख हुआ है। वे मदर के लिए प्रार्थना करेंगे।" ब्रिटिश प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर ने 'मदर टेरेसा' को करुणा की मूर्ति बताते हुए कहा कि मदर ने गरीबों की सेवा में अपना जीवन उत्सर्ग किया। उनकी सेवा और त्याग से

विश्व हमेशा प्रेरणा लेता रहेगा।

फ्रांस के राष्ट्रपति जैक शिराक ने कहा कि “आज मदर हमारे बीच नहीं हैं, लेकिन उन्होंने हमेशा आस्था, सौहार्द, एकजुटता, एक-दूसरे की मदद करने, एक-दूसरे का दुख बाँटने और स्नेह का प्रसार करने का अमर संदेश दिया।”

इटली के राष्ट्रपति आस्कर लुइगी स्कालफरो ने कहा कि ‘मदर’ का जीवन दूसरों और उनमें भी निर्धनतम और दीन-हीन लोगों के लिए समर्पित था। विश्व में आज जहाँ हम हिंसा और जातीय तथा नस्लवादी घृणा का शिकार हो रहे हैं, वहीं इस संत ने प्रेम का शाश्वत आदर्श दुनिया के समक्ष प्रस्तुत किया।

‘बकिंघम पैलेस’ ने मदर टेरेसा के निधन को अत्यंत दुःखद बताया। इंग्लैंड के रोमन कैथोलिक चर्च के मुख्य पादरी और वेल्स कोर्डिनल बेसि ह्यूम ने भी मदर के निधन पर गहरा शोक व्यक्त किया।

ग्वाटेमाला के राष्ट्रपति अलवारो आरजू इरिगोएन ने मदर के निधन को मानवता की क्षति बताया। श्रीलंका की राष्ट्रपति चंद्रिका कुमारतुंगा ने कहा, “हम सभी इस सूचना से दुःखी हैं।” आयरलैंड की राष्ट्रपति मेरी रोबिनसन ने कहा, “मदर को कई राष्ट्रपति और अंतर्राष्ट्रीय संगठनों ने सम्मानित किया।”

‘मिशनरीज ऑफ चौरिटीज’ की तत्कालीन प्रमुख सिस्टर निर्मला ने कहा कि गरीबों की सेवा ही ‘मदर टेरेसा’ के प्रति वास्तविक श्रद्धांजली होगी।

मदर की अंत्येष्टि के मौके पर अपने एक संदेश में उन्होंने कहा कि ‘मदर’ ने अपने हर भाषण में और हमें दिए गए निर्देशों में कहा कि ईश्वर की कृति को नष्ट न होने दो। गरीब, भूखे, प्यासे, बीमार और शारीरिक-मानसिक रूप से टूटे लोग ‘मदर’ के प्रिय पात्र थे।

भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति के.आर. नारायणन ने मदर टेरेसा के निधन पर गहरा शोक व्यक्त किया। मदर टेरेसा को दया की देवी की संज्ञा देते हुए श्री नारायणन ने कहा कि “उन्होंने पूरे विश्व में प्रेम और सद्भाव फैलाया तथा बीमार, जरूरतमंदों और गरीब-से-गरीब लोगों तक की मददगार बनीं। यद्यपि वे पूरे विश्व की नागरिक थीं, लेकिन वे विशेष रूप से हमारी संस्कृति की आत्मा के अनुरूप एक सच्ची भारतीय थीं और उनका निधन हम करोड़ों लोगों के लिए एक बड़ी क्षति है।

तत्कालीन प्रधानमंत्री इंद्रकुमार गुजराल ने 'मदर' के निधन पर गहरा शोक व्यक्त करते हुए कहा, "मेरे पास दुख व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं हैं।" श्री गुजराल ने कहा, "मदर टेरेसा ने उन लोगों को अपना प्रेम, अमन और सुख समर्पित किया, जिन्हें पूरा विश्व आमतौर पर ठुकरा चुका था।"

तत्कालीन लोकसभा अध्यक्ष पी.ए. संगमा ने कहा कि मदर टेरेसा ने शांति, प्रेम, दया और करुणा का जो अमर संदेश दिया, वह हमें प्रेरणा देता रहेगा।



तत्कालीन केंद्रीय गृहमंत्री इंद्रजीत गुप्त ने मदर टेरेसा को शांति और प्रेम का दूत बताते हुए कहा कि वह गरीबों और पिछड़े वर्गों की मसीहा थीं। उन्होंने पूरी दुनिया में प्रेम और शांति का संदेश फैलाया। गृहमंत्री ने कहा कि मदर टेरेसा के हमारे बीच से उठ जाने से भारत ही नहीं, बल्कि पूरी दुनिया को अपूर्णनीय क्षति हुई है।

पूर्व प्रधानमंत्री चंद्रशेखर ने मदर टेरेसा के निधन पर गहरा दुख व्यक्त किया और कहा कि उनके अचानक देहावसान से एक सच्ची सेविका दुनिया से उठ गई। मदर टेरेसा ने मानवता की पीड़ा बाँटने और बेसहारा बच्चों की आँख के आँसू पोंछने का काम आजीवन किया और अब उनकी मृत्यु के बाद

उनकी स्मृति पूरे विश्व, खासकर भारत के लोगों को इस दिशा में अनवरत कार्य करते रहने की प्रेरणा देती रहेगी।

पूर्व प्रधानमंत्री एच.डी. देवगौड़ा ने अपने संवेदना संदेश में कहा कि 'मदर' की हर साँस लोगों की सेवा को समर्पित थी। मदर टेरेसा का जीवन सभी को प्रेरणा देता रहेगा। उन्होंने बिना किसी भेदभाव के मानवता की सेवा की।

पूर्व प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने अपने संवेदना संदेश में कहा कि 'मदर' ने गरीबों, असहायों के दर्द को समझा, उनका जीवन ईश्वर की सच्ची आराधना था।

लोकसभा में तत्कालीन विपक्ष के नेता अटल बिहारी वाजपेयी ने मदर टेरेसा के निधन पर गहरा दुख व्यक्त करते हुए कहा कि उनकी निःस्वार्थ सेवा देश की जनता को हमेशा प्रेरणा देती रहेगी। श्री वाजपेयी ने अपने शोक संदेश में कहा कि मदर टेरेसा प्रेम एवं शांति की मसीहा थीं, जिन्होंने अपना पूरा जीवन सबसे गरीब व्यक्ति की सेवा में लगा दिया।

उन्होंने कहा कि आज के समय में जब लोगों का विश्वास डगमगाने लगा है, 'मदर' अटूट विश्वास की प्रतीक थीं। ऐसे समय में जब लोग स्वार्थी होते जा रहे हैं, मदर टेरेसा ने निःस्वार्थ रूप से उनकी सेवा की, जिन्हें समाज भी भूल चुका है। अपने काम से जो मापदंड उन्होंने स्थापित किए, उन्हें पाना बहुतों के लिए मुश्किल होगा। उन्होंने कहा कि 'मदर' जिन्होंने भारत को ही अपना देश माना, भारतीय जनता के लिए प्रेरणा स्रोत बनी रहेंगी।

पश्चिम बंगाल के मुख्यमंत्री बसु ने 'मदर' के निधन पर गहरा दुख व्यक्त करते हुए उन्हें महान मानवतावादी बताया। मुख्यमंत्री ने कहा कि अगर मदर टेरेसा अनाथों को अपने प्राँगण में नहीं ले गई होतीं, तो वे जेलों में होते।

मदर टेरेसा के निधन से एक महामानव उठ गया। सड़क के किनारे पड़े कराहते विकलांगों और बीमारों को उन्होंने प्रेम से सहारा दिया। उनकी करुणा किसी से कोई भेद नहीं करती थी। उनके पाँच फुट लंबे, पतले शरीर के हृदय में अवांछित और अनचाहे लोगों के लिए विशाल जगह थी। कालीघाट के मंदिर के एक कोने से बढ़कर उनका साम्राज्य सैकड़ों एकड़ ज़मीन में 'होम्स' के रूप में फैल गया और बाद में यह ज़मीन भारत की सीमा पार कर, पूरे विश्व में सैकड़ों देशों में फैल गई, जहाँ जगह-जगह 'मदर होम्स' खोले गए।

उनके अनूठे कामों के कारण राष्ट्रसंघ के पूर्व महासचिव पेरेज द कुइयार को कहना पड़ा कि मदर टेरेसा अपने-आपमें राष्ट्रसंघ हैं। वह दुनिया में शांति की प्रतीक हैं। अमेरिका के पूर्व राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने उन्हें विश्व-अभिनेत्री कहकर संबोधित किया।

मदर टेरेसा आज हमारे बीच नहीं हैं। इससे पूरे विश्व को निश्चित ही एक खालीपन महसूस होगा। आतंकवाद और हिंसा की चपेट में आई इस दुनिया में ऐसे लोगों की संख्या दिनों-दिन कम होती जा रही है, इसलिए उन्हें और भी ज़्यादा याद किया जाएगा।

निराश्रित और अनचाहे लोगों को तो निश्चय ही ऐसा लगेगा जैसे उनका मसीहा छीन लिया गया हो।

## पवित्र आत्मा सन्त माँ मदर टेरेसा

पोप जॉन पॉल 11 से 19 अक्टूबर 2003 को मदर टेरेसा को धन्य घोषित किया। बहुत से लोगों का यह मानना है कि सौभाग्यशाली मदर टेरेसा को किसी दिन संत का नाम दिया जाएगा और उनकी धन्य घोषणा संत बनने की ओर नया कदम है।

19 अक्टूबर, 2003 को पोप जॉन पॉल 11 ने कलकत्ता की मदर टेरेसा, जिनका निधन 1997 में हुआ था, को धन्य घोषित किया। मेसेडोनिया में जन्मी इस नन की धन्य घोषणा रोम में हुई और तब से उनकी लोकप्रियता बढ़ती जा रही है।

आधुनिक इतिहास में धन्य घोषणा की प्रक्रिया काफी छोटी है। 1999 में मदर टेरेसा के निधन से दो वर्ष पहले पोप जॉन पॉल ने पाँच वर्ष की समान्य प्रतीक्षा अवधि हटा दी और उनकी सन्त घोषणा का तत्काल आरम्भ करने की अनुमति दी।

2002 में पवित्र पिता ने एक भारतीय महिला की रोगमुक्ति को चमत्कार माना। यह चमत्कार मदर टेरेसा की पहली पुण्य तिथि को हुआ। यह चमत्कार एक गैर-ईसाई भारतीय महिला के साथ हुआ जिनके पेट में एक बड़ा ट्यूमर था और जब यह सोकर उठी तो ट्यूमर खत्म हो चुका था। परोपकार मिशनरी के सदस्यों ने अपने संस्थापक से बीमार महिला की मदद की प्रार्थना की।

मदर टेरेसा की धन्य घोषणा के बाद उनके द्वारा स्थापित परोपकार

मिशनरी के सदस्यों का यह कहना था कि “उनके निर्धनों की सेवा में जीवन अर्पित करने से हमें भी प्रेरणा मिली है। उनके उदाहरण और संदेश से प्रत्येक धर्म को यह विश्वास हुआ है कि ईश्वर आज भी संसार से प्यार करते हैं।”

“मदर टेरेसा के निधन के बाद से उनका कहना है” लोगों ने उनसे मदद मांगी है और उनकी प्रार्थना के माध्यम से भगवान के प्यार को महसूस किया है। रोजाना भारत और विश्वभर से आए श्रद्धालु उनकी समाधि पर प्रार्थना करते हैं और बहुत से अन्य लोग भी सर्वाधिक जरूरतमंद को प्यार करने के लिए उनके द्वारा दिखाए गए रास्ते पर चल रहे हैं जिसकी शुरुआत उनके परिवार से होती है।”

वर्ष 2001 में फीस्ट ऑफ दि एसम्पशन ऑफ मेरी के अवसर पर अधिकारियों ने मदर टेरेसा की पवित्रता की डियोसेशन जांच बंद कर दी। पूरे वर्ष भर उन लोगों से प्रमाण एकत्र करना, जो मदर टेरेसा को जानते हैं, एक लंबी प्रक्रिया का पहला प्रमुख कदम था। एक वर्ष पूर्व 26 अगस्त, 2000 को मदर टेरेसा के जन्म दिवस के अवसर पर कलकत्ता में एक समारोह में हिन्दू, सिख और मुस्लिम प्रशंसकों ने उन्हें जल्द से जल्द संत घोषित करने के लिए सामूहिक प्रार्थना की।

उनकी पुण्य घोषणा के बाद संत घोषित करने के लिए एक और चमत्कार की आवश्यकता होगी।

## संत बनने की प्रक्रिया

यदि कलकत्ता की मदर टेरेसा प्रारंभिक शताब्दी में पैदा होती तो शायद चर्च उनके अंतिम संस्कार पर एकत्रित होकर उन्हें संत घोषित कर देता। प्राचीन ईसाई धर्म में इसी प्रकार कार्य होता था। अब आधिकारिक रूप से संत की उपाधि पाना अधिक जटिल है जो कि बिना राजनीति ब्रांड और अन्य मानवीय दोषों के मुश्किल है। मगर इस “गटर की संत” का राजनीति से दूर और निर्धनों के प्रति पूर्ण और सरल समर्पण का जीवन उनके और संत की आधिकारिक घोषणा के बीच की सभी रुकावटों को पार कर लेगा।

सभी देशों और वर्गों के ईसाई मदर टेरेसा को आधुनिक युग के संत के रूप में सम्मान देते हैं। जुलाई में कैथोलिक न्यूज सर्विस ने कलकत्ता के आर्कबिशप हेनरी डिसूजा को बताया कि मदर टेरेसा की समाधि “एक ऐसा



तीर्थ स्थान है जहां लोग प्रार्थना करते हैं और जहां से बहुत से लोगों को कृपा और शक्ति मिलती है।”

संत घोषणा के लिए औपचारिक प्रक्रिया क्यों अपनाई जा रही है? इसमें विलंब क्यों हो रहा है? यह देखा गया है कि कैथोलिक गिरजाघर शताब्दियों में सोचता है, वर्षों में नहीं। यह गिरजाघर के लिए अच्छा है कि वह किसी एक दिन में दिखाए गए उत्साह की परीक्षा ले, कुछ क्षण प्रतीक्षा करे, इस बात को पहचाने कि जिसे आज संत के रूप में देखा जा रहा है कि वक्त की परीक्षा में खरा उतरेगा या नहीं। जैसा कि पिछले वर्ष आर्कबिशप डी'सूजा ने कहा था, गिरजाघर को “यह विश्वास होना चाहिए कि जिसे संत के रूप में घोषित किया जाता है, वह वास्तव में संत है।” औपचारिक जांच मदर टेरेसा के जीवन संबंधी उन घटनाओं का विवरणात्मक प्रमाण देगा जो शायद अनदेखी रह गई हो। और इस प्रकार आने वाली पीढ़ियों के लिए सूचना का भंडार प्रदान करेगा।

यद्यपि, डी सूजा जो मदर टेरेसा के पुराने मित्र थे, ने बात पर कोई संदेह

व्यक्त नहीं किया था। कि “ईश्वर चमत्कार की व्यवस्था करेंगे” जिससे उनके सन्त होने के प्रमाण मिलेंगे। यह मदर टेरेसा की पूर्ण निष्ठा, उनकी सादगी तथा आचरण था जिसने पूरी दुनिया की कल्पनाशक्ति को आकर्षित किया। सिर्फ़ येसू की धन्य घोषणा को याद करे “वे कितने प्रसन्न है, जो हृदय से शुद्ध है।” हृदय की यह शुद्धता ईश्वर तक पहुंचने के लिए एक सरल एवं पूर्ण निष्ठावान वचनबद्धता है। हम 20 वीं शताब्दी के कम्प्यूटर निर्भर नागरिक इस सादगी के लिए तरसते हैं : कलकत्ता की मदर टेरेसा ने इसे जिया है।

## फ्रांसिस का उदाहरण

वर्ष 1981 के एक साक्षात्कार में, मदर टेरेसा ने गरीबों के अन्य मसीहा के बारे में बताया था; वे थे संत फ्रांसिस ऑफ असीसी। फ्रांसिस के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना संबंधी प्रसिद्ध कहानी में, वे सड़क किनारे पड़े एक कोढ़ी को देखते हैं, और उसके पास से गुजरते हैं। तब उन्हें यह एहसास होता है कि अगर वे अपना जीवन गरीबों को समर्पित करना चाहते हैं तो उन्हें उस कोढ़ी को गले से लगाना होगा – उसका अपने जीवन में अपने भाई की तरह स्वागत करना होगा। तब फ्रांसिस बने। “उसी प्रकार पीड़ितों के साथ निःस्वार्थ मिलने ने ही उन्हें मदर टेरेसा बनाया।

ईसाईयों को यह संदेश मिला है कि वे गरीबों की सेवा करें, अपने खाने की मेज पर सबके लिए स्थान दें। फ्रांसिस इसे देखने आए थे। उसने ईश्वर का मजाक का पसन्द किया है जिसे उन लोगों से विशेष लगाव है जिनसे हम शायद दूर रहना चाहते हैं। टेरेसा ने भी अपने जीवन के मध्यकाल में इसे समझा। उसे एक संत के रूप में नामित किया जाएगा क्योंकि उसने जीवन के कोलाहल को दूर किया और अपने माध्यम से ईश्वर को अधिक शक्तिशाली रूप में कार्य करने दिया। हमें उसका अनुकरण करना चाहिए।

●●●